CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

1212

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १६, अंक ३,
जून १९९५, ज्येष्ठ - आषाढ २०५१

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका= (नूतनमालिका)
(भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी, अमलनेर)

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके
सम्पादक मण्डल : बळीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकान्त बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए संपर्क करें, प्रधान संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिन्दी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११ ००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महिने के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा ।

वार्षिक सदस्यता शुल्क :

(१) संस्थाओं के लिए	रु. ६०/–
(२) व्यक्तियों के लिए	रु. ५०/–
(३) एक प्रति	रु. १६/–

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १५००/–
व्यक्तियों के लिए रु. ५००/–

- राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें ।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड का निरपेक्षवादी दर्शन

१८८१ - १९४७

सम्भवतः अन्य किसी भी योरोपीय दार्शनिक को गणित और भौतिकशास्त्र में इतना निपुण और समान दक्षता रखनेवाला नहीं कहा जा सकता जितना कि व्हाइटहेड को समझा जाता है। मूलतः व्हाइटहेड गणितज्ञ है। स्वरुचि के कारण पहले प्रतीकात्मक-तर्कशास्त्र फिर ज्ञान-दर्शन और अंत में उन्होंने तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया है। व्हाइटहेड और एलेक्जेण्डर के बीच काफी समानता है। एलेक्जेण्डर की भाँति वे भी दर्शन को वैज्ञानिक पद्धति से देखना चाहते हैं और स्वीकार करते हैं की दार्शनिक का कार्य प्राकल्पना के आधार पर विश्व की व्याख्या करने वाला सिद्धान्त वनाना है। व्हाइटहेड के लिए भी यह कहा जा सकता है कि उस अर्थ में तर्क या प्रमाण देने में उन्हें कोई रुचि नहीं है, जिस अर्थ में प्रत्ययवादी या यथार्थवादी दार्शनिक देते रहे हैं।

व्हाइटहेड के विचार में विज्ञान को दर्शन की आधारशिला की भाँति कार्य करना चाहिए। अर्थात वह सामग्री जिसके आधार पर हम अनुभव की व्याख्या करते हैं, मूलतः विज्ञान से ही आनी चाहिए। प्रत्येक काल में भौतिकशास्त्र की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं, जो परिवर्तित भी हो सकती हैं। इस शती के प्रारम्भ तक भौतिकशास्त्र न्यूटन की मान्यताओं पर चल रहा था जिसके अनुसार विश्व तीन प्रकार की सत्ताओं का संकलन है - देश के विन्दु (स्पेस), काल के क्षण (टाइम) और जडतत्व के परमाणु (मेटर)। ऐसा कभी नहीं सोचा गया था कि ये तीनों किसी स्तर पर एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। क्योंकि निर्भरता का अर्थ होता है पृथक्-पृथक् अनेक सत्यों के स्थान पर सत्य की एकमेव अटूट तथा सतत् श्रृंखला।

आइन्स्टाइन के शोधों के पश्चात् यह निश्चित हो गया कि "देश" तथा "काल" को एक-दूसरे से स्वतन्त्र सत्ता नहीं माना जा सकता। जडतत्व मूलतः ऊर्जा है तथा परमाणु के भी खण्ड किये जा सकते हैं, जो ऊर्जा इकाईयोंके रुप में कार्य करते हैं। इस प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने इन तीनों स्वतन्त्र-सत्ताओं को एक-दूसरे पर निर्भर बना दिया। परिणामतः यह स्पष्ट हो गया कि स्थायी और स्थिर लगने वाला यह जड विश्व वास्तव में वैसा नही है जैसा वह प्रतीत होता है। साथ ही ऊर्जा स्थिर तत्व का नाम नही है बल्कि प्रक्रिया का नाम है इसलिए विश्व के मूल में खोज करनी होगी।

व्हाइटहेड कहते हैं कि भौतिकशास्त्र द्वारा प्राप्त इस नये ज्ञान के आलोक में हमें विश्व की नये सिरे से व्याख्या करनी होगी। जहाँ अभी तक स्थायित्व का सिद्धांत ही मान्य था, वहाँ उसके स्थान पर ऊर्जा तथा प्रक्रिया के अर्थ में सब कुछ देखना होगा। यद्यापि सुविधा के कारण हम स्थिरता या अर्द्ध-स्थिरता के पदों में ही सोचने के आदि हो गये हैं किन्तु हमारी विचार प्रणाली तथा भाषा दोनों ही प्रक्रिया को पूरी तरह व्यक्त करने में असमर्थ हैं इसलिए व्हाइटहेड को एक नयी पदावली के गठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। यही कारण है की उनकी पदावली को और साथ ही उनकी भाषा को भी समझने में हमें अतिरिक्त प्रयास करना होता है।

व्हाइटहेड के विचार में ज्ञाता और ज्ञेय को अलग-अलग करके देखना असम्भव है क्योंकि दोनों ही विश्व-प्रक्रिया के भाग हैं। वास्तव में कोई भी इकाई इस प्रक्रिया से स्वतन्त्र नहीं है। इस अर्थ में प्रत्येक इकाई अन्य हवाइयों को प्रभावित करने का कार्य कर रही है। चूँकि इस प्रकार सब इकाइयाँ मिलकर एक समाविष्ट का निर्माण करती है, फलतः व्हाइटहेड ने अपने दर्शन का नाम अंगिवाद (आर्गनिज्म) रखा है।

विचार के दोष -

व्हाइटहेड की सम्मति में न्यूटन का भौतिक दर्शन और उस पर आधारित होने के कारण शेष दर्शन ही नहीं बल्कि सामान्य विचार शैली तथा बोलचाल की भाषा भी दो दोषों से ग्रसित है। ये दोनों दोष एक-दूसरे से सम्वध्द हैं और सत्य के स्पष्ट स्वरुप को सामने नहीं आने देते।

सरल स्थान दोष -

पहले दोष को सरल-स्थान-दोष कहा जाता है। साधारणतः हम यह मान लेते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि हर वस्तु अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र है। प्रत्येक वास्तविक इकाई अन्य सभी वास्तविक इकाइयों में किसी न किसी अर्थ में आवश्यक रुप से विद्यमान रहती है। हम यदि किसी इकाई को शेष विश्व से अलग तथा स्वतंन्त्र मान लेंगे तो हमारा विचार दोषपूर्ण होगा। व्हाइटहेड के विचार में किसी भी भौतिक वस्तु के अस्तित्व के लिए न केवल सहायक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं वल्कि वे परिस्थितियाँ प्रत्येक वस्तु के स्वभाव का भाग भी हैं। कोई भी वस्तु स्वयं पर पूर्ण रुप से निर्भर नहीं होती, इसलिए उसका स्वभाव भी केवल उसी तक सीमित नहीं रह सकता। अपने अस्तित्व के लिए वस्तुओं को अपनी परिस्थितियों पर अर्थात् सम्पूर्ण विश्व पर निर्भर होना पड़ता है, अतः विश्व ही प्रत्येक वस्तु के स्वभाव का निर्माता भी होगा।

यह सिद्धांन्त व्हाइटहेड के गत्यात्मक विचारों का सीधा प्रतिफलन है। उनके अनुसार हम गत्यात्मक दृष्टि से किसी भी वस्तु को आत्मकेन्द्रित या सुनिश्चित सीमाओं में बंधा हुआ नहीं मान सकते। प्रत्येक वस्तु प्रक्रियाओं का संकलन है इसलिए उसमें तथा शेष विश्व में कहीं भेद हो ही नहीं सकता। फिर भी गतिहीनता के पदों में सोचने के कारण वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और सामान्य लोगों ने वस्तुओं को उनके सच्चे स्वरुप में देखने की अपेक्षा उन्हें गतिहीन इकाइयाँ मान लिया है। सम्भवतः इसी कारण दार्शनिक विश्व को भलीभाँति समझ नहीं पाये हैं। अलग-अलग मान लेने में ही दूसरा दोष निहित है।

भ्रान्त - मूर्तता - दोष -

यह दोष वास्तव में पहले दोष में ही निहित है। व्हाइटहेड के अनुसार यथार्थ मूर्त विश्व परस्पर निर्भर इकाइयोंका एक गत्यात्मक संकलन है। इसमें से हम अमूर्त विचार के द्वारा किसी एक इकाई को अलग कर लेते हैं और उस भाग को एक अमूर्त विचार की अपेक्षा एक यथार्थ और मूर्त इकाई मानने लगते हैं। व्हाइटहेड की दृष्टि में अमूर्त को मूर्त मानने की यह भ्रान्ति दर्शन तथा विज्ञान की अधिकांश कठिनाईयों का कारण है। चूँकि समस्त विचार ही अमूर्त विचारों की खोज है इसलिए यह भय सदैव वना रहता है कि हम अनुभव में आने वाली सम्पूर्ण सजीव जटिल गत्यात्मक प्रक्रियाओं को अमूर्त विचारों के द्वारा अमूर्त बना डालें और उन्हें ही सत्य न मानने लगें। सत्य, जिसे एकमात्र मूर्त इकाई कहा जा सकता है, सम्पूर्ण विश्व प्रक्रिया है, उसका पृथक् किया कोई भाग नहीं। जब हम इस वात को विस्मृत कर विचार द्वारा शेष भाग से पृथक् किये गये अमूर्त पदों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को ही सत्य मानने लगते है तो हमारे विचार में भ्रान्त - मूर्तता - दोष आ जाता है। आभास और सत्य के बीच अन्तर अनेक वड़े-बड़े दार्शनिकोंने किया है जबकि व्हाइटहेड के विचार में यह अन्तर ही इस दोष का अच्छा उदाहरण है।

ज्ञान-दर्शन

जैसा कि स्पष्ट दिखाई देता है, व्हाइटहेड लॉक के ज्ञानात्मक द्वैतवाद से तनिक भी सहमत नही है क्योंकि उनके विचार में प्रकृति तथा उसके प्रत्यक्षण के बीच भेद नहीं किया जा सकता। वे इस सीमा तक यह कहने को तैयार है कि ज्ञान का वर्णन तो किया जा सकता है किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। वे लॉक सदृश उन सभी दार्शनिकों से असहमत हैं जो ज्ञान के अज्ञात आधार या उसकी उत्पत्ति का सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान अपने आप में पूर्ण इकाई है। हम केवल द्रव्य का तथा आन्तरिक सम्बन्धों का विश्लेषण कर सकते हैं, परन्तु यह नहीं वता सकते कि ज्ञान क्यों उत्पन्न होता है ? अनुभव पर ज्ञान को आधारित मानने के कारण व्हाइटहेड एक ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करना चाहते है जो अनुभव में आने वाली प्रत्येक वात की व्याख्या कर सके।

व्हाइटहेड ज्ञाता और ज्ञेय को एक-दूसरे से स्वतन्त्र नहीं मानते, इस प्रकार का विभाजन सरल-स्थान-दोष का उदाहरण है। ज्ञाता वास्तव में उसी विश्व का भाग हैं जो ज्ञान का विषय है।

ज्ञान उसके विचार में निष्क्रिय नहीं है। ज्ञान वास्तव में यथार्थ के एक भाग के साथ समागम है, अन्ततः समागम के सक्रिय सम्बन्ध का ही परिणाम है।

व्हाइटहेड का विश्वास है कि दार्शनिकों ने मानव शरीर को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि उसे दिया जाना चाहिए था। जिसे हम संवेदना कहते हैं वह वास्तव में किसी अन्य वस्तु का हमारे साथ एक विशेष प्रकार से सम्बन्ध का परिणाम है। अर्थात संवेदना के दृष्टिकोन से जितना महत्व वाह्य वस्तु का है उतना ही शरीर का भी होना चाहिए। चूँकि इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया है अतःदार्शनिक यह नहीं समझ पाये कि संवेदनशील प्राणि शेष प्रकृति से अलग नहीं है वरन् उसका ही एक भाग है। इसी प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक दूसरी भूल है दृष्टि पर अत्यधिक वल देना। साधारणतया अनुभव का अर्थ दृष्टि के अनुभव से ही है जो हमें वस्तुओं को अलग-अलग करके दिखाने का कार्य करता है। यदि हम छूने, सुननं आदि अन्य संवेदनाओं पर भी उतना ही ध्यान दें तो इस विभ्रम को दूर किया जा सकता है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व हमें अनुभव तथा संवेदना के विषय में इन मिथ्या धारणाओं को सुधारना होगा।

व्हाइटहेड अनुभव तथा चेतना के सम्वन्ध में एक महत्वपूर्ण सूचना देते हैं। दार्शनिक प्रारम्भ से ही यह मानते आ रहे हैं कि अनुभव चेतना पर आधारित होता है। अरस्तु वल्कि देकार्त तक चेतना को अनुभव की पहली शर्त मानते हैं। इसके विपरीत व्हाइटहेड के अनुसार चेतना को मन का सार नहीं कहा जा सकता और हर प्रकार के अनुभव को चेतन-अनुभव नहीं कहा जा सकता। चेतना वास्तव में मन का वह सर्वोच्च स्तर है जिस पर कभी-कभी मन पहुँच पाता है। इस प्रकार चेतना अनुभव पर आधारित है, अनुभव चेतना पर नहीं। उनका यह भी विश्वास है कि जीवन जड़ है किन्तु फिर भी उसमें जीवन पाया जाता है। इस दृष्टि से जड़ तथा जीवित में कोई अन्तर नहीं है। तीव्रता की वृद्धि की प्रक्रिया के साथ अचेतन चेतन हो जाता है। चेतना अनुभव का एक छोटासा भाग है किन्तु फिर भी दार्शनिकों ने इस पर सर्वाधिक महत्व दिया है। इस कारण चेतना के अतिरिक्त अनुभव की उपेक्षा करके उन्होंने वास्तविकता के एक वहुत वड़े भाग को खो दिया है। व्हाइटहेड के विचार में दर्शन की अधिकांश कठिनाइयाँ इसी उपेक्षा का परिणाम है। उन्होंने अचेतन अनुभव को अपने विचारोंका आधार बनाया और अनेक नवीन सिद्धातों की उद्भावना में सफलता पायी है। संक्षेप के उनका उल्लेख आवश्यक है -

दो प्रकार की सत्ताएँ -

व्हाइटहेड के अनुसार दो प्रकार की मूलभूत सत्ताएँ हैं –

१) वास्तविक सत्ताएँ,

२) शाश्वत सत्ताएँ।

१) जैसी कि व्हाइटहेड की मान्यता है - गतिहीन रुप से स्थिर कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे जिसे मूल सत्ता माने वह गति या प्रक्रिया की सवसे छोटी इकाई हो। यह छोटी इकाई वास्तविक सत्ता है। विश्व भौतिक परमाणुओं का नहीं वल्कि वास्तविक घटनाओं का वना हुआ है। घटना को वास्तविकता की अन्तिम इकाई बनाकर ही यह देख पाना सम्भव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो पायेगा कि पूरी विश्वप्रक्रिया मूलतः एक ही है। जिन्हें हम अनुभव में आने वाली भिन्न-भिन्न इकाइयाँ कहते है, वे उसी नानात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। यद्यपि वास्तविकता की भिन्न-भिन्न इकाइयों के महत्वपूर्ण कार्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं तथापि उन सभी में वह समानता अवश्य है कि सभी वास्तविक सत्ताएँ हैं। व्हाइटहेड उन्हें "अनुभव की बूँदे" कहते हैं और ऐसा करने में उनका अन्यर्थ यह दिखता है कि सभी वास्तविक सत्ताएँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं।

२. प्लेटो के प्रत्ययों की भाँति शाश्वत वस्तुएँ भी कभी परावर्तित न होने वाले आकार हैं जो प्रकृति में सदा से रहे हैं और रहेंगे। नवीन शाश्वत वस्तुओं की सृष्टि नहीं हो सकती। उनका कार्य है वास्तविक वस्तुओं के स्वरुप को निर्धारित करना। व्हाइटहेड ने वास्तविक सत्ताओं और शाश्वत सत्ताओं के सम्बन्ध को "निवेश" की संज्ञा दी है। निवेश वास्तव में शाश्वत सत्ताओं का प्रत्येक घटना के साथ अपना विशेष सम्वन्ध होता है। शाश्वत वस्तुएँ इसी के द्वारा वास्तविक सत्ताओं में परिवर्तित हो जाती है।

परिग्रहण

यह एक अर्थ में प्रत्यक्षण का दूसरा नाम ही है। वस्तुतः व्हाइटहेड यह दिखाना चाहते हैं कि एक ही प्रक्रिया की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ होने कारण सभी वास्तविक सत्ताओं को एक-दूसरे से उसी प्रकार सम्बन्धित होना चाहिए जिस प्रकार लाइवनित्ज़ के चिद्विन्दु है। लाइबनित्ज़ के चिद्विन्दुओं की मूल संवेदनशीलता बतायी है, ठीक वैसे ही व्हाइटहेड ने परिग्रहण को वास्तविक वस्तुओं का मूल स्वभाव माना है। विश्व की प्रत्येक घटना को आत्मानुरुप होते हुए भी साथ-साथ अन्य घटनाओंका भाग होना है। इसे समुद्र तथा लहर की उपमा से बताया जा सकता है। प्रत्येक लहर अन्य सभी लहरों को अवश्य प्रभावित करती है चाहे वह प्रभाव कितनाही हलका क्यों न हो। परस्पर विद्यमान होने का यह कार्य वास्तविक सत्ताएँ परिग्रहण के द्वारा करती हैं। व्हाइटहेड के शब्दों में परिग्रहण की परिभाषा इस प्रकार है -"वह सामान्य विधि जिसमें एक अनुभव अन्य सभी अनुभवों तथा पदार्थोंको अपने आप में समेट लेता है,, परिग्रहण कहलाता है"

व्हाइटहेड के विचार में आधुनिक दर्शन ने प्रकृति के विभाजन की जो बात कही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, वही इस दर्शन का सबसे बड़ा दोष है क्योंकि प्रकृति को तत्त्व तथा उसके गुण सामान्य और विशेष के बीच विभाजित किया जा सकता। देकार्त और लॉक सदृश दार्शनिक जिसे तत्त्व की उपाधि देते हैं वह व्हाइटहेड की दृष्टि में सरल-स्थान-दोष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि तत्व अपने आप में पूर्ण तथा मौलिक है तो प्रश्न उठेगा कि उसके बदलते हुए रुपों का क्या आधार है ? प्राचीन दार्शनिक स्वभाव से ही परिवर्तन को असम्भव मानते थे किन्तु आधुनिक विज्ञान ने इसे सन्देहातीत रुप से सिद्ध कर दिया है कि परिवर्तन सत्य है। इसलिए स्थायी और परिवर्तनरहित तत्व की पुरानी परिभाषा को ही हमें छोडना होगा। व्हाइटहैड अपने दर्शन में स्थायित्व का कोई स्थान नहीं पाते। उनकी दृष्टि में भौतिकवाद भी असम्भव है। एक वैज्ञानिक के ऐसे विचार निःसन्देह आश्चर्य पैदा करते हैं। चूँकि जड़-पदार्थ अपना रुप कभी नहीं परिवर्तित कर सकता इसलिए व्हाइटहेड के विचार में भौतिक वाद के आधार पर परिवर्तन और गति की व्याख्या असम्भव है। संक्षेप में हमें स्थायी अपरिवर्तनशील स्थिर सभी परिवर्तनोंके आधार तत्त्व की कल्पना ही छोड देनी होगी क्योंकि अनुभव में गति और परिवर्तन ही दृष्टिगत होते है।

वास्तविकता का स्वरुप

अपने पूर्वगामी दार्शनिकों के गतिहीन सिद्धान्तोंसे असहमति जताने के कारण व्हाइटहेड के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे विज्ञान के दार्शनिक आधारों का पुनर्निर्माण करने का प्रयास करें। इतना तो स्पष्ट है कि उस पुनर्निर्माण में गतिहीन तथा परिवर्तनरहित सत्ताओं के लिए कोई स्थान नहीं होगा। परन्तु गतिहीन इकाइयों को प्रयोग में लाना सरल कार्य नहीं है। चूँकि हमारी भाषा गत्यात्मक सत्योंकी अभिव्यक्ति के लिए बनी ही नही है इसलिए व्हाइटहेड को ऐसे अनेक दार्शनिक पदों का आविष्कार करने को बाध्य होना पड़ा जो उनके अतिरिक्त किसी अन्य दार्शनिक में नही पाये जाते। उन पदों का कार्य है सत्य को गत्यात्मकता के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त करना कि उनमें सरल-स्थान-दोष या भ्रान्त-मूर्तता-दोष न आने पाएँ। चूँकि व्हाइटहेड गणितज्ञ हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनकी पद्धति गणित की पद्धति हो तथा उनका उद्देश्य विश्व की ऐसी व्याख्या हो जिसमें अनुभव के प्रत्येक अंग के लिए समुचित स्थान हो। व्हाइटहेड को कतिपय अर्थों में ब्रेडले का अनुयायी कहा जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार ब्रेडले ने अनुभव में उस इकाई को भी माना है जिसके द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की व्याख्या हो सकती है, उसी प्रकार व्हाइटहेड ने भी वास्तविक सत्ताओं में भी सभी सत्योंकी कुंजी खोल ली है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसा कि हम देख चुके हैं कि अनुभव के लिए व्हाइटहेड के विचार में चेतन होना आवश्यक नहीं है अर्थात् परिग्रहण केवल चेतन प्राणियों की विशेषता नहीं है। बल्कि जड़ पदार्थ के परमाणुओं तक में पाये जाते हैं। इस कारण उन्होंने प्रत्यक्षण के समानार्थक साधारण शब्दों को स्वीकार नहीं किया है। यदि परिग्रहण शक्ति न हो तो किसी घटना को वास्तविक सत्ता नहीं कहा जा सकता। इस परिग्रहण की प्रक्रिया के तीन भाग हैं -

१. विषयी - जो परिग्रहण करने का कार्य करता है अर्थात वह वास्तविक (सब्जेक्ट) सत्ता जिसमें परिग्रहण मूर्त रुप से पाया जाता है।
२. दत्त सामग्री - वह दत्त सामग्री जिसका परिग्रहण किया जाता है, और(डेटम)
३. विषयी आकार - जिस रुप में विषयी आकार दत्त-सामग्री का परिग्रहण करता (सब्जेक्टिव फार्म) है।

परिग्रहण को व्हाइटहेड दो भागों में बाँटते है। वास्ताविक सत्ता के परिग्रहण को भौतिक परिग्रहण (फिजिकल प्रेहेन्शन) कहा जाता है और शाश्वत् वस्तु के परिग्रहण को प्रत्ययात्मक परिग्रहण। किन्तु चेतना दोनों में से किसी के लिए भी अनिवार्य नहीं है।

इस विचार का सवसे महत्त्वपूर्ण परिणाम है, यह विश्वास कि विषयी रुप में आत्मा, प्रक्रिया द्वारा विकास का परिणाम है। परिग्रहणकर्ता प्रान्गृहण बनने की प्रक्रिया का परिणाम हैं। अनुभव का प्रत्येक वास्तविक अवसर एक विषय है और विषय की विषयनिष्ठता अवसर के साथ ही उत्पन्न होती है। प्रत्येक परिग्रहण में भावना, प्रयोजन तथा कार्य-कारण निहित होता है जो उसकी एक दिशा निर्धारित करता हैं।

व्हाइटहेड का दृढ़ अभिमत है कि परिग्रहण के सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने संवेदना तथा उसके आधार को अलग करके देखने से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को सुलझा लिया है। इसी भाँती अनुभव के क्षणों तथा शाश्वत् वस्तुओं को भी अलग नहीं किया जा सकता। यह परिग्रहण मनुष्यों तक सीमित न होकर भिन्न-भिन्न मात्राओं में प्रत्येक परमाणु तक में पाया जाता है।

ईश्वर

विश्व क्या है? इसकी व्याख्या कर चुकने के पश्चात् व्हाइटहेड उस आधार के विषय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में बताते हैं कि समष्टि में विश्व की व्याख्या केवल ईश्वर के द्वारा ही सम्भव है। ईश्वर मूल रुप से गत्यात्मक ही है जिसका प्रत्येक अंश सदैव विकसित होता रहता है। ईश्वर समयसे परे वह वास्तविक सत्ता है जो सभी सृजनात्मक प्रक्रियाओं में भाग लेते हुए भी परिवर्तन से परे है। उसमें कोई अन्तर्विरोध नही पाया जाता क्योंकि अन्तर्विरोध अशुभ का लक्षण है।

विश्व की दो मूल सत्ताओं की भाँति व्हाइटहेड ने ईश्वर को भी दो भागों में विभाजित कर दिया है - मौलिक और परिणाम। जिस प्रकार शाश्वत वस्तुएँ वास्तविक नहीं होतीं उसी प्रकार ईश्वर का मौलिक भाग भी मात्र प्रत्ययात्मक है। यह भी स्पष्ट है कि विश्व के विना ईश्वर का अस्तित्व सम्भव नहीं है क्योंकी परिणाम भाग विश्व के सृजनात्मक विकास पर निर्भर करता है। इसीलिए व्हाइटहेड कहते हैं - यह कहना कि विश्व ने ईश्वर का निर्माण किया।

व्हाइटहेड ने अन्य ईश्वरवादियों की भाँति ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए न तो विभिन्न प्रमाण जुटाए, न ही इस दिशा में कोई प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके दर्शन में ईश्वर सृजनात्मक शक्ति का ही दूसरा नाम है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

डॉ. सुरेन्द्र सिंग नेगी

दर्शन विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर वि. वि., सागर
(म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भागवतीय सांख्य

भारतवर्ष में सांख्य दर्शन की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से रही है तथा उसके मूल स्वरुप में समय् - समय पर परिवर्तन होता रहा है। आश्चर्य का विषय है कि सांख्य दर्शन के अधिकांश चिन्तक 'ईश्वर कृष्ण' की कारिकाओं के आधार पर ही निष्कर्षो तक पहुंचने का प्रयास करते है तथा सांख्यशास्त्र के प्रर्वतक कपिल ऋषि के उन विचारों का उपयोग ही नहीं करते, जो भागवतादि पुराणों में प्राप्त होते हैं, "भागवत पुराण" में सांख्य का जो विवरण प्राप्त होता है, वह पारंपारिक अथवा शास्त्रीय सांख्य से सर्वथा भिन्न है। यह संपूर्ण जगत जिससे ओतप्रोत होकर प्रकाशित होता है, वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि, निर्गुण, प्रकृति से परे अन्तःकरण में स्फुटित होनेवाला और स्वयंप्रकाश है।[1] यही वह पुरुष है, जो स्वेच्छा से अपनी ओर अभिगमन करती हुई "प्रकृति" को "लीला" के लिए स्वीकार करता है, इसी पुरुष को संभवतः ईश्वर माना जाता है।[2] यही ईश्वर "प्रकृति" को स्वयं अपने सत्वादि गुणों से विभिन्न सृष्टियों को उत्पन्न करते हुए देखकर 1
"प्रकृति" की आवरण डालने वाली अज्ञान शक्ति से स्वयं "विमूढ़" हो गया।[3] स्वयं से भिन्न प्रकृति के अपने स्वरुप पर मिथ्या आरोपण के कारण "पुरुष" "प्रकृति" के गुणों की स्वाभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनों में स्वयं को कर्ता मान बैठता है और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के बंधन में बंधकर अनंत कर्मों के चक्र में उलझ जाता है। वास्तव में प्रकृति स्वयमेव अपने समस्त आत्म-स्थित प्रभावों का कारण और कर्ता होती है तथा पुरुष समस्त सुख-दुःखों का केवल निष्क्रिय भोक्ता होता है।

पदार्थों के विकास के संदर्भ में कहा गया है कि पंच महाभूत, पंच तन्मात्राएँ, दस इंद्रियाँ एवं मनस, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त-कुल २४ पदार्थ होते हैं, "काल" को भागवत में पच्चीसवाँ पदार्थ माना गया है। इसे ईश्वर ने अलौकिक प्रयास के रुप में भी परिगणित किया जाता है।[4] पुरुष ही प्रकृति के प्रभाव में आता है और वही ईश्वर के रुप में अपनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अलौकिक योग्यता के द्वारा उससे मुक्त भी होता है। भागवतोक्त कपिलदर्शन के अनुसार काल के प्रभाव से ही प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था में विक्षोभ होता है तथा उनके स्वाभाविक परिणाम उत्पन्न होते हैं तथा ईश्वर द्वारा नियंत्रित कर्मों के नियमों के अनुसार महतत्त्व का विकास होता है। महतत्त्व को यद्यपि प्रकृति के विकासक्रम की एक अवस्था के रुप में निरुपित किया गया है, तथापि उसे केवल एक सृजनात्मक वृत्ति या प्रकृति ही माना गया है, न कि स्वतंत्र पदार्थ। भागवत में यह भी माना गया है कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर अपनी सुप्त शक्तियों के साथ एकाकी तथा स्वयं को प्रतिबिंबित करने एवं अपने आत्म-लाभ के लिए सहायक रुप में किसी अन्य वस्तु को न पाकर उसने काल की क्रिया एवं अपने स्वभाव के माध्यम से अपनी माया-शक्ति की साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न किया तथा उसे चेतना से संयुत किया, इस प्रकार प्रकृति के परिणाम द्वारा सृष्टि क्रम प्रारंभ हुआ।[5]

भागवत में यह प्रश्न भी उपस्थित किया गया है कि यदि ईश्वर स्वयं में मुक्त है तो फिर वह स्वयं को माया के बंधन में कैसे आवद्ध कर देता है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि वास्तव में तो ईश्वर का कोई बंधन नहीं होता, तथापि जैसे स्वप्न में मनुष्य अपनी गर्दन कटते हुए देखता है, अथवा कंपित लहरों में जैसे कोई अपने प्रतिबिंब को कंपायमान देखता है, उसी प्रकार ईश्वर का प्रतिबिंब ही सांसारिक अनुभवों के बंधन से पीड़ित जीवों के रुप में भासित होता है। अतः जीवों की सृष्टि मिथ्या ही मानी जायेगी, परिणामतः सांसारिक अनुभव भी असत् कहे जायेंगे। पुनश्च, यह स्पष्ट किया गया है कि जगत चैतन्य में केवल भासित होता है, वस्तुतः उसका कोई अस्तित्व नहीं होता।[6] इस प्रकार जीवों की तथा जगदाभास की तात्त्विकता का निषेध भी किया गया है।[7] इस विरोधाभास की संगति स्थापित करते हुए यह कहा जाता है कि वस्तुतः ईश्वर और उसकी माया या प्रकृति दो मूलभूत पदार्थ हैं, ईश्वर आत्म-लाभ के लिए स्वयं को प्रकृति में, जो उसी की शक्ति है, प्रतिबिंबित करता है और अपनी ही शक्ति को गर्भाधृत कर प्रकृति के बंधन से पीड़ित जीवों के रुप में भासित होता है। ईश्वर के द्वारा स्वयं का गर्भाधान करने से प्रकृति चैतन्य से सजीव होती है, फिर 'काल' नामक उसके सृजनात्मक प्रयास द्वारा प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होता है, प्रकृति में परिणामात्मक गति उत्पन्न होती है तथा पदार्थों का विकास होता है।[8]

भागवत में पदार्थ - समुच्चयों (अंशियों) को मिथ्या ही निर्देशित किया गया है।[9]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निखय परमाणुओं के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं तथा परमाणु भी परिकल्पित संरचनाएँ हैं, जिनके विना समुच्चयों का अस्तित्व नहीं होता। वाह्य जगत् संबंधी समस्त संकल्पनाएँ परमाणुओं से ही आरंभ होती हैं, हमें जो कुछ भी अनुभव होता है, वह शनैः शनैः श्रेणिवद्ध संवर्धनों से विकसित होते हैं, जिनका विकास कोई वास्तविक विकास नहीं होता, वल्कि काल-भावना का विनियोग मात्र है। अतः काल जगत का सहव्यापी माना जा सकता है। परमाणु की संकल्पना लघुतम क्षण की संकल्पना मात्र है तथा उनके समुच्चयों के स्थूलतर (द्वयणु, त्रसरेणु आदि) विकास को विकासोन्मुख काल - क्षणों के संवर्धनशील संग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता। जो भी परिवर्तन होता है, उसमें अधिष्ठान रुप में स्थित परम सत्ता एक सर्वव्यापी अपरिवर्तशील समुच्चय है, जो काल की क्रिया से संवर्धनों के रुप में भासित होता है।[10] इस प्रकार काल को प्रकृति से उत्पन्न नहीं माना जा सकता, अपितु वह ईश्वर की अलौकिक क्रिया ही है, जिसके द्वारा अव्यक्त प्रकृति का स्थूल परिणमन होता है तथा समस्त विभक्त सत्ताएँ समुच्चयों के रुप में भासित होती हैं। काल के संवंध में यह दृष्टिकोण योग के दृष्टिकोन से विल्कुल भिन्न है, जिसके अनुसार काल को क्षणों के रुप का माना गया है।[11] भागवतीय सांख्य में काल को ईश्वर में अंतर्निहित क्रिया-शक्ति के रुप में माना गया है, जो माया का सक्रिय तत्त्व भी कहा गया है।[12] तथा गुणों को निष्क्रिय तत्त्व।

प्रकृति से विकसित होने वाला प्रथम पदार्थ "महत्" ही, जिसमें समस्त ब्रह्मांड के बीज अंतर्विष्ट होते हैं, वह विशुद्ध सत्व होता है, जिसे साम्प्रदायिक भाषा में "चित्त" अथवा "वासुदेव" भी कहा गया है। "महत्" से तीन प्रकार के अहंकार - "वैचारिक," "तैजंस्" एवं "तामस्" उत्पन्न होते हैं, जिसे सम्प्रदायों में "संकर्षण" कहा गया है। समस्त क्रिया-कलाप अथवा परिणामों का सूत्रधार यही अलंकार होता है। "मनस्" की उत्पत्ति वैकारिक अहंकार से होती है, जिसे सम्प्रदायों में "अनिरुद्ध" कहा गया है। इस प्रकार भागवत में "वासुदेव-संकर्षण-अनिरुद्ध" व्यूहों पर विश्वास किया गया है। प्रद्युम्न-व्यूह की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है, जो "काम" (इच्छा) का प्रतिनिधित्व करता है। काम या इच्छा 'मनस्' के क्रिया-व्यापार मात्र हैं, पृथक पदार्थ नहीं।[13] "तैजस्" अहंकार से "वुद्धि" का विकास होता है। ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं, विषयों के संज्ञान, संशयों, त्रुटियों, निश्चयात्मकता, स्मृति एवं निद्रा को वुद्धि से ही संवंद्ध किया जाता है। कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ - दोनों 'तैजस' अहंकार से उत्पन्न होती हैं। "तामस अहंकार" से शव्द - तन्मात्रा तथा शव्द तन्मात्रा से आकाश महाभूत उत्पन्न होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आकाश से तन्मात्रा तथा "रुप तन्मात्रा" से "तेज" महाभूत उत्पन्न होता है। "पुरुष" यद्यपि प्रकृति में निमज्जित रहता है, तथापि अपरिवर्तनशील, गुणरहित एवं पूर्णतः निष्क्रिय होने के कारण वह प्रकृति के गुणों से किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं होता। प्रकृति का प्रभाव पुरुष के प्रतिबिंबन तक ही सीमित रहता है तथा प्रकृति में प्रतिबिंबत होने के कारण एक ही पुरुष असंख्य जीवों की प्रतिच्छाया प्रक्षेपित करता है। समस्त जीव अहंकार से भ्रमित होते हैं तथा स्वयं को ही सक्रिय कर्ता समझने लगते हैं तथा वास्तव में कोई जन्म एवं पुनर्जन्म नहीं होते, किन्तु दुखः स्वप्नों में पीड़ित मनुष्यों की भाँति जीवसंसार-चक्र का अनुभव करते रहते हैं।[14]

अतः भागवतीय सांख्य में मोक्ष की ऐसी संकल्पना प्रस्तुत की गई है कि जो भी ऐसी अभिलाषा रखते हैं, उन्हें सांसारिक सुखों के प्रति भक्ति का दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना चाहिए, उन्हें आत्म-संयम का परिचय देना चाहिए, समस्त प्राणियों के प्रति निर्वैर होना चाहिए, सम-दृष्टि, ब्रम्हचर्य, मौन-व्रत का पालन करना चाहिए, जो कुछ सहज में ही प्राप्त हो जाए, उसी से संतुष्ट रहना चाहिए। जब मिथ्या स्वार्थ, प्रेम और अहंकार का त्याग हो जाता है, प्रकृति और पुरुष के संबंध में इस सत्य का ज्ञान हो जाता है कि जैसे एक ही सूर्य जल में अनेक प्रतिविंबो का भ्रम उत्पन्न करता है, उसी प्रकार एक ही पुरुष सबकी अधिष्ठान सत्ता है, तब मोक्ष की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस अनुभव में समस्त जैविक, ऐन्द्रिय एवं मानसिक व्यक्तित्त्व या अहंता का विलोप हो जाता है।[15] पातंजल-योग-सूत्रों में उल्लिखित अहिंसा, सत्य, अस्तेय, संतोष, शौच, स्वाध्याय, धैर्य, इंद्रिय-निग्रह आदि को आत्म-विकास की भूमिका के रुप में समादृत किया गया है। मन को शुद्ध करने की प्रणालियों में आसन, प्राणायाम, तथा ध्यान पर बल दिया है। जब इस प्रक्रिया से मन शुद्ध हो जाता है, ध्यान का अभ्यास कर लिया जाता है, तब साधक को ईश्वर और उसके महान गुणों का चिंतन करना चाहिए।[16] चूंकि भागवत मूलतः आस्तिक ग्रंथ है, अतः इसके सेश्वर सांख्य दर्शन में यह प्रतिपादित किया गया है कि साधना के दूसरे सोपान में ईश्वर के प्रति भक्ति से उस परमसत्ता के साथ एकता को अनुभव किया जाता है, प्रकृति और भ्रामक जीवों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः यह निर्दिष्ट किया गया है कि जब कोई साधक श्रीहरि की सुंदर, अलौकिक एवं प्रदीप्त आकृति का चिंतन करता है तथा उसके प्रेम में मदमस्त हो जाता है, तब उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो उठता है, भावातिरेक में वह रोमांचित हो उठता है, और ईश्वर के प्रति उत्कंठा से आनंदातिरेक के अश्रुओं में प्लावित हो जाता है, इस प्रकार मनस् रुपी कंटक जिन इंद्रिय विषयों में संलग्न

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता है, उनसे वियुक्त हो जाता है।[17] भागवत में इस प्रकार स्थापित किया गया है कि ऐसे भावातिरेक से किसी व्यक्ति का मन अन्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है तथा चिंतन का जब कोई विषय शेष नहीं रह जाता, तब बुझाई गई लौ के सदृश-मन-का-भी विनाश हो जाता है, इस प्रकार गुणों के परिणाम के कारण स्वयं पर आरोपित उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है और आत्मा अलौकिक एवं परमात्म-सत्ता से तादात्म्य स्थापित कर लेती है।[18]

परमात्म-सत्ता के अनुग्रह को प्राप्त करने भक्ति की चार कोटियाँ निश्चित की गई हैं - तामस, राजस, सात्विक तथा निर्गुण। जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत ईर्ष्या, गर्व अथवा शत्रुता को संतुष्ट करने के लिए ईश्वर का अनुग्रह चाहते हैं, तथा उसकी भक्ति करते हैं वे "तामस" कहलाते हैं, जो शक्ति, यशादि प्राप्त करने के लिए भक्ति - साधन अपनाते हैं, वे 'राजस' कहलाते हैं तथा जो धार्मिक कर्तव्य की भावना से अथवा अपने पाप प्रक्षालित करने के उद्देश्य से भक्ति करते हैं, वे "सात्विक" कहे जाते हैं, किन्तु जो ईश्वर के प्रति आसक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु के विना उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं तथा पाद-सेवा के-आनंद मात्र की आकांक्षा रखते हैं, वे "निर्गुण" भक्त कहलाते हैं। इसमें ईश्वर के सर्व-व्यापकत्व की अनुभूति होती हैं। ऐसा भक्त समस्त प्राणियों को अपना मित्र समझता है, उसकी दृष्टि में मित्र एवं शत्रु में कोई भेद नहीं होता। ईश्वर की केवल वाह्य उपासना से ऐसी उच्च कोटि की भक्ति संभव नहीं है। अतः ऐसे भक्त को सम्पूर्ण मानवता को मित्र समझकर सबकी सेवा का व्रत धारण करना चाहिए।[19] इस प्रकार आत्म-शुद्धि, ईश्वर एवं उसके श्रेष्ठ गुणों के प्रति मन को केन्द्रित करने की योग-प्रणाली से मनुष्य में ईश्वर के प्रति नैसर्गिक प्रेम उत्पन्न होता है और यह चरम-ज्ञान प्राप्त होता है कि एक मात्र परम सत्ता ईश्वर ही है, जीव एवं उनके अनुभव, प्रकृति तथा उसके परिणामों में प्रतिबिंब मात्र हैं। भागवतकार ने जिस "योग" का प्रयोग किया है, वह पतंजलि-योग से भिन्न है। भागवतकार ने योग के उपांगों का उल्लेख मनःशुद्धि के उपायों के रुप में किया है, जिसका चरम उद्देश्य प्रापंचिक जीव की ईश्वर के साथ एकता उपलब्ध करना है। चूंकि यह योग मुख्यतया ईश्वर का चिंतन करके उसके साथ एकीकरण का लक्ष्य निश्चित करता है, अतः इसे एक प्रकार का भक्ति-योग ही माना जा सकता है, जिसमें ईश्वर के प्रति भावातिरेक के द्वारा उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है।[20]

भागवत में कपिल ऋषि को ईश्वर के अवतार के रुप में प्रतिष्ठित किया गया है तथा उनके द्वारा वर्णित सांख्य सेश्वर-सांख्य-दर्शन है तथा ईश्वरकृष्ण अथवा पतंजलि के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सांख्य से उसमें पर्याप्त अंतर है। आचार्यों के बीच सर्वाधिक विवाद का विषय पदार्थों की संख्या के बारे में है। भागवत में सांख्य की उन विभिन्न शाखाओं का उल्लेख किया गया है,[21] जो पदार्थों की संख्या भिन्न-भिन्न स्वीकार करती है। विभिन्न मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि कुछ पदार्थों को कुछ अन्य पदार्थों में समाविष्ट करने के कारण ही सांख्याचार्य में मत-वैभिन्य लक्षित होता है।[22] जैसे कुछ कार्य-तत्त्वों को कारक-तत्त्वों में समाविष्ट कर लिए गए हैं, जिसके कारण तत्त्वों की संख्या कम-ज्यादा निर्दिष्ट की गई है। जो लोग यह मानते है कि "पुरुष" अनादि अविद्या से प्रभावित होने के कारण परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहता है [23] तो वे "पुरुषोत्तम" के अस्तित्व की कल्पना अनिवार्यतः करते हैं, जो पुरुष को उक्त ज्ञान प्रदान कर सके। इस दृष्टिकोन से २६ तत्त्व होते हैं, किन्तु जो लोग पुरुष या जीव तथा ईश्वर में अंतर नहीं मानते तो तत्त्वों की संख्या कम हो जाती है। कुछ विद्वान केवल नौ तत्त्व मानते हैं, वे पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार तथा पंच तन्माभाओं को परिगणित कर ऐसा मानते हैं। इस विचारधारा में "ज्ञान" को गुणों का परिणाम माना जाता है, चूंकि प्रकृति गुणों के साम्यावस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, अतः ज्ञान को प्रकृति से एकरुप माना जाता है। इसी प्रकार क्रियाएँ केवल "रजस" का परिणाम मानी जाती हैं तथा अज्ञान को "तमस" का परिणाम माना जाता है। इस मत में "काल" को पृथक तत्त्व नहीं माना गया है, बल्कि गुणों की सहायिका गति कही गई है और स्वभाव को महत् से एक रुप माना गया है। इस मत में ज्ञानेन्द्रियों को शामिल कर लिया गया है, कर्मेन्द्रियों को दो अतिरिक्त तत्व मानते हैं तथा स्पर्श, गंधादि, संवेदनाओं को ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्तियाँ मानकर उनके तत्त्व होने का निषेध करते हैं। एक अन्य विचारधारा के अनुसार प्रकृति पुरुष के प्रभाव से क्रियाशील होती है, अतः उससे भिन्न है, इस प्रकार दो तत्त्व तो पुरुष और प्रकृति हो जाते हैं, फिर पंच तन्मात्राएँ, अलौकिक दृष्ट्या एवं प्रापंचिक जीव को मिलाकर कुल नौ तत्त्व हो जाते हैं। कुछ विद्वान केवल पंचमहाभूत एवं अलौकिक पुरुषों को ही स्वीकृति देते हैं। कुछ अन्य विद्वान केवल चार ही तत्त्व मानते हैं। वे तेजस, आपः एवं पृथ्वी को तीन तत्त्व और अलौकिक पुरुष को चौथा तत्त्व मान्य करते हैं। सत्रह तत्त्व माननेवाले पंच तन्मात्रा, पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियों, मनस तथा पुरुष को स्वीकार करते हैं। सोलह तत्त्व मानने वाले मनस् और पुरुष को एक मान लेते है। तेरह तत्त्व के समर्थक पंचमहाभूत में तन्मात्राओं को एक रुप कर, पंच ज्ञानेन्द्रियों, मनस, अलौकिक पुरुष एवं प्रापंचिक जीव को ही मान्य करते हैं तथा ग्यारह तत्त्व के पक्षधर केवल पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियों और पुरुष को ही स्वीकार करते हैं, ऐसे भी विचारक हैं। आठ प्रकृतियों[24] और पुरुष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को ही मान्य करते हैं। इस प्रकार भागवतीय सांख्य में तत्त्वों के संबंध में विरोधी मतों का समाहार करने का प्रयास किया गया है।[25]

शास्त्रीय सांख्य से भागवतीय सांख्य में मौलिक भेद यह है कि भागवत[26] में एक ही पुरुष को वास्तविक सर्वव्यापी आत्मा के रुप में स्वीकृत किया गया है। यही पुरुषसमस्त अनुभवों का यथार्थ द्रष्टा होता है और यही पुरुष जगत की निखिल वस्तुओं में अधिष्ठान सत्ता के रुप में होता है। विशेष प्रापंचिक जीव अथवा सामान्य पुरुष प्रकृति के परिणामों के साथ भ्रामक अविवेक तथा उसके फलस्वरुप प्रकृति की गतियों एवं उपकरणों के पुरुष में आरोपण के कारण सत्य भासित होते हैं। इस मिथ्या आरोपण के कारण ही मिथ्या जीवों का उदय होता है तथा इस प्रकार जन्म एवं पुनर्जन्म का आभास उत्पन्न होता है यद्यापि प्रकृति का सामान्य पुरुष के साथ कोई साहचर्य नहीं होता। अतः यह कहा गया है कि हमारे समस्त जाग्रक अनुभव स्वप्नों के समान मिथ्या हैं तथा मनस् की भ्रांत धारणाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। भागवत में अन्य अनकेशः अवतरणों में जगत के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन किया गया है, जो मूलतः कपिल-दर्शन से भिन्न नहीं है। जागतिक अनुभवों को मिथ्या मानकर एकतत्त्ववाद पर भागवत में विशिष्ट बल दिया गया है, जिससे शास्त्रीय सांख्य के यथार्थवादी मतवाद का खंडन होता है।[27]

भागवतीय सांख्य की एकतत्त्ववादी व्याख्या उन अवतरणों में चरम उत्कर्ष को प्राप्त होती है, जिनमें यह स्थापित किया गया है कि परम सत्ता एक ही तथा समस्त भेद केवल नाम-रुपात्मक हैं। ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ भी अनुभव होता है, शब्दों के द्वारा जो भी व्याख्या हो सकती है अथवा विचारों में जो भी संकल्पित हो सकता है, वह एक परम सत्ता ब्रम्ह ही है, गुण मन से उत्पन्न होते हैं तथा मनस गुणों की उत्पत्ती है। यो दोनों मिथ्या सत्ताएँ ही व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। ये दोनों मिथ्या सत्ताएँ अयथार्थ हैं तथा एकमात्र तत्त्व ब्रम्ह है, जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति - सभी मनस् के क्रियाव्यापार हैं, यथार्थ आत्मा विशुद्ध साक्षिन है, जो उनसे नितांत भिन्न है। जब तक ज्ञान से सब कुछ निर्मूल नहीं हो जाता, तब तक अज्ञानी जागृति में स्वप्न-मात्र देखता है, उसी प्रकार जैसे कोई मनुष्य स्वप्नों में स्वयं को जागृत समझता है। चूंकि आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तथा अन्य सभी स्वप्नों के समान मिथ्या है, अतः समस्त जागतिक नियम, उद्देश्य, लक्ष्य एवं कार्य मिथ्या ही कहे जायेंगे।[28] जीवन के तीनों अनुभव वास्तविक नही हैं, वे सब परम सत्ता ब्रह्म पर "माया" की अभिव्यक्तियाँ मात्र है। इस प्रकार भागवत में यह स्पष्ट किया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि हमें तर्कों से समस्त आसक्तियों को निष्कासित कर देना चाहिए तथा ज्ञान की तलवार से समस्त बंधनों का उच्छेदन कर देना चाहिए। हमें जगत और उसके समस्त अनुभवों को मनःकल्पित ही समझना चाहिए यह सब आभास मात्र है, जो प्रकट होता है और तिरोहित होता है, समस्त अनुभव माया मात्र है एक मात्र अधिष्ठान सत्ता शुद्ध चैतन्य है। अतः सम्यक ज्ञान से ही मोक्ष संभव होता है। मोक्षावस्था में भी शरीर तब तक विद्यमान रह सकता है, जब तक कि सुख-दुखःमय अनुभवों का भोग-कर्म-चक्र समाप्त न हो जाए। इस प्रकार भागवत में सर्वत्र एक अतिशय अध्यात्मवादी एकतत्त्ववाद की आवृत्ति बार-बार की गई है।[29]

भागवत के प्रारंभिक मंगलाचरण में ही यह कहा गया है कि गुणों द्वारा की गई सृष्टि मिथ्या है, फिर भी उसमें अधिष्ठान रुप में स्थित परम सत्ता के कारण वह यथार्थ प्रतीत होती है, जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय परम सत्ता ब्रम्ह से निष्पन्न होते हैं तथा इस परम सत्ता के प्रकाश से समस्त अंधकार तिरोहित हो जाते हैं।[30] एक अन्य अवतरण[31] में यह कहा गया है कि ब्रह्म गुणों से अतीत है तथा जगत के रुप में जो भी उत्पन्न होता है, उसका अधिष्ठान एवं कारण ब्रह्म ही है और केवल वही सत्य है। भागवत में यह भी निर्देश किया गया है कि माया के निमित्तात्मक एवं उपादानात्मक - दो भेद होते हैं, उपादानात्मक भेद को "प्रकृति" या गुणों से एक रुप माना गया है, किन्तु यह माया ईश्वर की बाह्य शक्ति मानी गई है। माया के संबंध में ऐसा भेद अन्य पुराणों में लक्षित नहीं होता। "विष्णु पुराण" में यह स्थापित किया गया है कि ईश्वर अपनी क्रीडात्मक क्रिया के द्वारा प्रकृति, पुरुष, नानात्मक जगत एवं काल के रुप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तथापि 'विष्णु पुराण' में प्रकृति और पुरुष को ईश्वर के स्वरुप से भिन्न माना गया है तथा काल को ऐसी सत्ता के रुप में स्थापित किया गया है, जो प्रकृति और पुरुष को सान्निध्य में रखकर उन्हें सृष्टि रचना की ओर प्रवृत्त करता है।[32] "विष्णु पुराण" के अनुसार काल प्रकृति और पुरुष में संबंध स्थापित करने वाला कारण है, इसलिए महाप्रलय के समय निखिल सृष्टि रुपों के प्रकृति में लय हो जाने के बाद भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखता है। जब गुण साम्यावस्था में रहते हैं, तब प्रकृति एवं पुरुष असंबद्ध होते हैं, काल-तत्त्व ही ईश्वर से प्रकट होकर दोनों को संबद्ध करता है।[33] प्रकृति के अव्यक्त तथा व्यक्त (संकोच एवं विकास) दोनों ही अवस्थाओं में काल ईश्वर के स्वरुप का अंश होता है। प्रकृति की साम्यावस्था को क्षुब्ध करने में ईश्वर स्वयं को अपने स्वरुप को विक्षुब्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता है।[34] यह कार्य ईश्वर काल के माध्यम से ही करता है। वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा प्रकृति और पुरुष में प्रवेश कर जाता है तथा प्रकृति के सृजनात्मक-कार्यों को आरंभ करता है।[35] इस प्रकार काल ईश्वर का ऐसा आध्यात्मिक प्रभुत्व माना जाता है, जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं में अचल रहकर भी प्रकृति को चलायमान करता है। प्रकृति से विशिष्टीकरण की क्रिया के विकास के द्वारा सात्विक, राजस् एवं तामस् रुपों में महत् का त्रिविध विकास होता है। महतत्व के त्रिविध विकास का दर्शन "विष्णु पुराण" की अपनी विशेषता मानी जाती है, जो शास्त्रीय सांख्य से भिन्न मत है।[36] महतत्व के त्रिविध विकास की क्रिया के द्वारा वैकारिक, तैजस एवं भूतादि से महत् का विशिष्टीकरण होता है। इस प्रकार वैकारिक तैजस् एवं भूतादि महत् में संगठित रहते हैं और महत् प्रकृतिमें संगठित रहता है। पतंजलि योग-सूत्र[37] पर व्यास-भाष्य में इस द्वितीय अवस्था के प्रति सांख्य-सिद्धांत में भी सहमति व्यक्त की गई है।

इस प्रकार "विष्णु पुराण" में यह माना गया है कि महत् के अंतर्गत संगठित रहकर भूतादि का तन्मात्रिक अवस्था में विशिष्टीकरण होता है तथा शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, शब्द - तन्मात्रा से आकाश तत्त्व उत्पन्न होता है, शब्द तन्मात्रा और आकाश के संगठन से आकाश स्वयं को स्पर्श - तन्मात्रा में रुपान्तरित कर लेता है। स्पर्श तन्मात्रा के रुपान्तरण के द्वारा वायु की उत्पत्ति होती है, फिर आकाश तत्त्व एवं शब्द तन्मात्रा के सकीकरण का स्पर्श तन्मात्रा से संयोजन कर वायुतत्व भूतादि के माध्यम से रुप - तन्मात्रा को उत्पन्न करता है तथा भूतादी से परिवृद्ध रुप - तन्मात्रा से तेजस् की उत्पत्ति होती है। स्पर्श तन्मात्रा, वायु-तत्त्व एवं रुप तन्मात्रा के एकीकरण से संयोजित होकर तेजस तत्व भूतादि के माध्यम से स्वयं को रस-तन्मात्रा में रुपान्तरित कर लेता है तथा उसी विधि से भूतादि से परिवृद्ध होकर आपतत्त्व की उत्पत्ति होती है। फिर रस-तन्मात्रा एवं आपतत्त्व के एकीकरण से भूतादि के माध्यम से आप तत्त्व के रुपान्तरण से गंध तन्मात्रा उत्पन्न होता है और भूतादि से परिवृद्ध होकर गंध तन्मात्रा के रस एवं आपः तत्त्व के साथ एकीकरण द्वारा पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होता है। तेजस् अहंकार से दस कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वैकारिक अहंकार से मनस् उत्पन्न होता है।[38]

भागवत में वर्णित कपिलोक्त सांख्य, पतंजलि सांख्य-सम्प्रदाय, विष्णु-पुराण आदि में सांख्य दर्शन की परंपराओं का आकलन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न आचार्यों के वैचारिक पोषण से सांख्य-दर्शन में परिवर्तन होता रहा है। अतः यह अनुमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं किया जा सकता कि यथार्थतः कपिल ऋषि का कौनसा मत है? तथापि भागवत में वर्णित कपिल-दर्शन को सत्य माना जाता है। निरीश्वरवादी ईश्वरकृष्ण ने भी "सांख्य कारिका" में सांख्य-दर्शन की परम्पराओं का उल्लेख किया है। तदनुसार कपिल ने आसुरि को और आसुरि ने पंचशिख को उपदिष्ट किया। इसी गुरु-शिष्य परंपरा से ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्य दर्शन को प्राप्त किया, तथापि कपिल ऋषि एवं ईश्वरकृष्ण के सांख्य-मतों में पर्याप्त वैभिन्य है। कपिलोक्त सांख्य जहाँ ईश्वरवादी है, वहीं ईश्वरकृष्ण अपनी कारिकाओं में निरीश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। भागवतीय सांख्य (कपिलोक्त) पतंजलि एवं "व्यासभाष्य" के सेश्वर सांख्य से कुछ भिन्न होते हुए भी "पंचरात्र आगम" में वर्णित सांख्य की परंपरा का पोषण करता है। "पंचरात्र आगम" में कथित सांख्यमत के अनुसार "प्रकृति" अनेकात्मक जगत का कारण है, यह प्रकृति भगवान विष्णु की इच्छाशक्ति से प्रेरित काल के प्रभाव द्वारा सृजनात्मक रुपान्तरणों में प्रवृत्त होती है। पुरुष केवल एक ही है, जो समस्त पुरुषों का पूर्ण योग है तथा पूर्णतः अपरिवर्तनशील है, प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था से निर्मित है, कालतत्व के द्वारा ईश्वर की संकल्प-शक्ति प्रकृति और पुरुष को संबंधित करती है, जिसके फलस्वरुप प्रकृति की सृजनात्मक क्रिया प्रारंभ होती है। पुरुष, प्रकृति एवं काल विष्णु भगवान की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं।[39] स्थूल तत्त्वों का विकास अपनी - अपनी तन्मात्राओं से सीधे होता है, ईश्वर की शक्तियाँ तर्कातीत हैं, काल से "सत्व-गुण" उत्पन्न होता है तथा "सत्व" से "रजस" एवं "रजस" से "तमस" उत्पन्न होता है। "पंचरात्र आगम" में इस सांख्यमत का श्रेय कपिल ऋषि को दिया गया है, जो "षष्टितंत्र" के लेखक थे।[40] आश्चर्य यह है कि "षष्ठितंत्र" से प्रेरित होने की बात ईश्वरकृष्ण ने भी स्वीकार की है, तथापि कपिलोक्त सांख्य के ईश्वरवादी विचारों को उन्होंने पूर्णतः निरुत्तर कर दिया।[41]

कपिल ऋषि के संवंध में कोई विशिष्ट इतिहास प्राप्त नहीं होता। प्रथम कपिल ऋषि वे थे, जिन्होंने राजासगर के पुत्रों के भस्म किया था, जिन्हें "महाभारत" में तथा भागवत में भी विष्णु का अवतार माना गया है, द्वितीय कपिल ऋषि वे, जिन्हें अग्नि के अवतार के रुप में प्रतिष्ठित किया जाता है, तथा तृतीय कपिल ऋषि वे थे, जिन्हें उपनिषदीय ऋषि कहा जाता है। "महाभारत" के टीकाकार नीलकंठ का मत है कि अग्नि के अवतार माने जाने वाले कपिल ऋषि ने ही निरीश्वरवादी सांख्य का प्रतिपादन किया था।[42] संभव है, ईश्वरकृष्ण का सांख्य इन्हीं कपिल ऋषि से प्रभावित रहा हो। फिर भी महाभारत में जो विवरण प्राप्त होता है, वह निरीश्वरवादी नहीं है। महाभारत में [43]कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया है कि कपिल मुनि ने अपना सांख्य-दर्शन इस सिद्धांत पर आधारित किया कि एक ही "पुरुष" महानारायण है, जो स्वयं में पूर्णतः निर्गुण एवं समस्त सांसारिक अनुभवों से सर्वथा असंपृक्त है और फिर भी वही सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरोंसे संबधित जीवों का अधीक्षक है, तथा उनके द्वारा भोगे गए समस्त ज्ञानात्मक एवं इंद्रियजन्य अनुभवों का परम आधार है, वही आत्मगत एवं विषयगत जगत के रुप में भासित होने वाली पूर्ण एवं परम सत्ता है और वही वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न के चक्रव्यूह में ब्रह्मांड का सृजन और नियमन करता है।

उपर्युक्त उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि ईश्वर कृष्ण के पूर्व सांख्य दर्शन की विभिन्न शाखाएँ ईश्वरवादी धारणाओं से युक्त थीं, संभवतः बौद्ध - दर्शन के प्रभाव से ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में निरीश्वरवाद का प्रवेश हो गया। भागवतीय सांख्य की विशेषता यह मानी जायेगी कि उसमें उन विरोधी मतों का समाहार करने का प्रयास किया गया है, जिसके कारण तत्त्वों की संख्या भिन्न - भिन्न मानी जाती रही है। भागवतीय सांख्य में यही प्रतिपादित किया गया है कि प्रकृति एवं उसकी अभिव्यक्तियाँ ईश्वर की माया-शक्ति की क्रिया से उत्पन्न होती है। प्रलयकाल में ईश्वर स्वयं से पूर्ण तादात्म्य बनाए रखता है तथा गुण, जो उसकी माया शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, साम्यावस्था में रहते हैं। यह ऐसी अवस्था मानी गई हैं जिसमें उसकी समस्त शक्तियाँ सुप्त रहती हैं अपनी अन्तर्निहित शक्ति के द्वारा वह अपनी सुप्त शक्ति की साम्यावस्था को विक्षुब्ध करता है तथा स्वयं को सृष्टीरचना मे प्रवृत्त करता है, प्रकृति एवं उसके विकास-तत्त्वों का विस्तार करता है, और इस प्रकार उनका अपने वंशरूप जीवों से साहचर्य स्थापित करता है। जो जगत के द्वैतानुभव से भ्रमित होते हैं, उसका उपभोग करते हैं एवं उसके लिए पीड़ित होते हैं, वह उनको वेदों के द्वारा उपदेश देकर उनका सम्यक् मार्ग प्रदर्शित करता है।[44] आत्मा अपने अनुभवातीत स्वरुप में विशुद्ध अनुभव है, अतएव किसी प्रकार की वस्तुगत आकृति से रहित है एवं उससे पूर्णता अछूता है। उसकी वस्तुगतता तथा विषय-सामग्री से साहचर्य स्वप्न-सृष्टि की भांति मिथ्या है तथा उन्हें माया से उत्पन्न माना जाना चाहिए।[45]अनुभव-स्वरुप-सत्ता के रुप में पाई जाने वाली चंचल मानसिक अवस्थाओं सें भिन्न उसकी पहचान भागवतीय सांख्य की ही विशेषता है। भ्रम या माया की परिभाषा यह दी गई है कि माया वह है, जो असत् विषयों को अभिव्यक्त करती है, किन्तु स्वयं अभिव्यक्त नहीं होती।[46] मानसिक अवस्थाओं में समाविष्ट, विविध अंगों की अनुभव-सामग्री में, जो मुक्त माला में विद्यमान सूत्र के सदृश्य स्थिर बना रहता है, वह विशुद्ध अनुभव कर्ता है, पुरुष है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः पुरुष को मानसिक अवस्थाओं की उस सामग्री से भिन्न समझना चाहिए, जिसे वह प्रकाशित करता है।[47]

पुरानी बस्ती
कायस्थ पारा, रायपूर (म.प्र.) 492 001
विजयकुमार शर्मा

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

१) अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः
प्रत्यग्धाम स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।। भागवत 3/26/3

२) अयं ईश्वर इत्युचते । - भागवत पर वल्लभ की "सुबोधिनी" टीका।

३) वल्लभाचार्य इस अवस्था में उसे "जीव" मानते हैं। (सुबोधिनी टीका), जबकी श्रीधर ईश्वर और जीव कह कर भेद करते हैं (श्रीधरी टीका)

४) प्रभव पुरुषं प्राहुः कालमेके यतोयम् ।। भागवत 3/26/16

५) वही - 2/5/22-23

६) वही 3/7/9-12

७) अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीत स्थापी नात्मः ।। वही - 3/7-18 अनात्मनः प्रपंचस्य प्रतीतस्यापि अर्थाभावमर्थोऽत्र नास्ति, किन्तु प्रतीतिमात्रम्। (श्रीधरी टीका)

८) डॉ. एस. एन. दास गुप्ता - भारतीय दर्शन का इतिहास 4,5/24

९) भागवत - 5/12/6-9

१०) वही - 3/11/1-5

११) विज्ञान भिक्षुः योगवार्तिक 3/51

१२) डॉ. दास गुप्ता 4, 5/24

१३) भागवतः 3/26-27 पर श्रीधरी टीका : यस्य मनसः विकल्पाभ्यां कामसम्भवो वर्तत इति कामरुपा वृत्तिलक्षणत्वैन उक्ता न तु प्रदयुम्न व्यूहोत्पत्तिः तस्य संकल्पादि कार्यत्वाभावात्।

१४) डॉ. दास गुप्ता 4, 5/25

१५) भागवत - 3/27

१६) वही - 3/28

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१७) एवं हरौ भागवति प्रति लब्धमावी भक्तया द्रवद हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् औरुकण्ठय - वाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस तच्चापि चित्तवडिशं शनकैर वियुक्ते।।
वही 3/28-34

१८) मुक्ताश्रयं यम् निर्विषयंविरक्तम् निर्वाणम् ऋच्छतिमनः सहसा यथाऽर्चिः आत्मानत्र पुरुषोऽव्यधानमेकम् अन्वीक्षते प्रति निवृत्त गणप्रवाह।। वही 3/22-35

१९) यौ मां सर्वेषुभूतेषु शान्तभात्यानभीश्वरम्।
हित्वाऽर्चा भजते यौढयात् भस्यन्येव जुहोतिसः
अहमुच्चा वचैर द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनधे।
नैव कष्येऽर्चितोऽर्चायाँ भूत-ग्रामावभानिनः। वही 3/29/22-24.

२०) यतः संघार्य मानां योगिनोभक्ति लक्षणः।
आशु सम्पदयते योग आश्रयं भद्र मीक्षतः।। वही - 2/1/21.

२१) वही - 11/22

२२) परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानाम।। वहीं

२३) अनाद्यविद्यायुक्तस्य।। वहीं

२४) पंचमहाभूतः अहंकार बुद्धी वं अव्यक्त - देखिए-अवश्घोष कृत बुद्ध चरित.

२५) डॉ. दास गुप्ता 4/5 /27-28

२६) भागवत - 11/22

२७) यथा मनोरथ धियो विषयानुभवो मृषा
स्वप्न दृष्टावश्य दाशार्ह तथा संसार आत्मनः
अर्थेऽत्र विदयामानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा। वहीं - 11/22/55-56.

२८) वही - 11/13

२९) वही - 11/13

३०) जन्मद्यस्य यतोऽन्वयाद इतरतश्चाथैष्व
अभिज्ञः स्वराटः तेने ब्रहम हृदाय आदिकवये
मुहयन्ति यत् सूरयः, तेजोवारि-मृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा, धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं
सत्यं परम धीमाहि। भागवत - 1/1/1

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३१) 6/4/29-32

३२) व्यक्तं विष्णुस्तथा व्यक्तं पुरुषः कालेवच।
क्रीड़तो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय।
विष्णोः स्वरुपात परतो हितेऽन्ये रुपे
प्रधानं पुरुषश्च विप्रास्तस्येव तेऽन्येन धृते
वियुक्त रुपादि यत् तद् द्विज कालसंज्ञम्।। - वि.पु. 1:2 18-24.

३३) गुण - साम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते काल-स्वरुप रुपं तद विष्णोर मैत्रेय वर्तते। वही - 27.

३४) स एवं क्षीभको ब्रह्न क्षोम्यश्च पुरुषोत्तमः। वही - 28.

३५) प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छयाहरिः
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्ग - कालेव्यायव्यौ।। वही 29.

३६) डॉ. दास गुप्ता 4/5 /31

३७) पतंजलियोग सूत्र 2-19 - पर व्यास - भाष्य.

३८) विष्णु पुराणः 1/2

३९) पुरुषश्चेन कालश्च गुणश्चेति त्रिछोच्यते
भूतिः शुद्धेतरा विष्णोः ..... अहिर्बुध्न्य संहिता 6/8

४०) सांख्यरुपेण संकल्पो वैष्णवः कपिलाद ऋषेः
उदितो यादृशः पूर्व सादृशं श्रृणु मेऽखिलम्
षष्ठिभेदं स्मृतं तंत्र सांख्य नाम महामुने
प्राकृतं वैकृतं चेति मंडले द्वे समासतः।। वही - 61/19

४१) डॉ. दास गुप्ता 4/5/34

४२) महाभारत 13/351 पर नीलकंठ की टीका।

४३) महाभारत - 12/350-5

४४) स वैकिलायं पुरुषः पुरातनो
य एक आसदि अविशेष आत्मनि
अग्रे गुणेभ्यो जगत-आत्मनीश्वरे
निमीलितात्मन् निशि सुप्त शक्ति।
स एव भूयो निज वीर्य चौदितं
स्व - जीव - भायां प्रकृति सिसृक्षतीम्
अनाम - रुपात्मनि - रुप - नामनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विधित्समानोऽनुसंसार शास्त्रकृत। भागवत 1/10/21-22

४५) आत्मा मायाम् ऋते राजन् परस्यानुभवात्मनः न घटेतार्थ सम्बंन्धः
स्वप्नदष्टुर इवासा। वही 2/9/1

४६) ऋतेऽर्थ यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि
तद विद्यादात्यनो मायां यथाभासो तथातमः।।
वही 2/9/33

४७) अन्वयं व्यतिरेक विवेकेन सत्तात्मना
सर्ग स्थान - समाम्नायैर विमृरादमिट्सत्दै।
बुधरे जागरणं स्वप्नः सुषुप्पिरिति वृत्तयः
ता यैनेपानुमुयन्ते सोऽहयक्षः पुरुषः परः।। वही 7/7/24-25.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भागवत संप्रदाय प्रेरणा और प्रभाव
(भाग १)

मराठी साहित्य पर भागवत संप्रदाय का कैसा और क्या परिणाम हुआ, इस बात की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें मुख्य रुप से प्राचीन मराठी साहित्य पर ही विचार करना होगा। क्योंकि आधुनिक मराठी साहित्य पर भागवत संप्रदाय की अपेक्षा नवीन पाश्चात्य मतप्रणाली का बहुत अधिक परिणाम हुआ है। वैसे न्यायमूर्ति रानडे, डॉ. भांडारकर, विष्णुशास्त्री चिपळुणकर, लोकमान्य तिलक इत्यादि विद्वानों की गहरी और अभ्यासपूर्ण लेखन-संपदा से समृद्ध बने हुए आरंभिक आधुनिक मराठी साहित्य पर भागवत संप्रदाय का परिणाम कुछ मात्रा में दिखाई देता है, परंतु नूतन पाश्चात्य मतप्रणाली के कारण वह भी मिश्रित स्वरुप का बन गया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत विवेचन में 'मराठी साहित्य' से अभिप्राय प्राचीन मराठी साहित्य से ही है।

प्राचीन मराठी साहित्य

आधुनिक मराठी विद्वानों का कहना है कि प्राचीन मराठी साहित्य का आरंभ महानुभावों के साहित्य से हुआ। सामान्य रुप से प्राचीन मराठी साहित्य को दो कालखंडो में विभाजित किया जा सकता है। एक कालखंड महानुभवों का है, तो दुसरा उनके परवर्ती साहित्यकारों का। प्रथम कालखंड में जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसपर स्वाभाविक रुप से महानुभाव-दर्शन का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। वस्तुतः महानुभावसंप्रदाय भागवत संप्रदाय ही है। 'ज्ञानापसि प्रेम उत्तम' उनका सूत्र है। श्रीकृष्ण तथा दत्तात्रय उनके उपास्य-दैवत हैं। गीता और भागवत को वे भी पूजनीय ग्रंथ मानते हैं। परंतु महानुभाव संप्रदाय द्वैतवादी संप्रदाय है। उनके मतानुसार जीव, देवता, प्रपंच और परमेश्वर - ये चार स्वतंत्र और नित्य वस्तुएँ हैं। जो भी हो, परंतु इस द्वैतवादी संप्रदाय के मतों का परिणाम आगे चल़ कर महाराष्ट्र में कायम नहीं रह सका। महाराष्ट्र के बाहर ही इसका अधिक प्रभाव पड़ा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन मराठी साहित्य का दूसरा कालखंड श्रीज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास इत्यादि संतपुरुषों का है। ये सभी भागवत मत के अनुयायी हैं। इस दुसरे कालखंड में दो संप्रदायों का समावेश होता है - ज्ञानेश्वर, तुकाराम का वारकरी संप्रदाय तथा स्वामी रामदास का रामदासी संप्रदाय। प्राचीन मराठी साहित्य का अधिकांश इन्हीं दो संप्रदायों के साहित्य से व्याप्त है।

वारकरी और रामदासी संप्रदाय

वारकरी तथा रामदासी-दोनों संप्रदाय अद्वैतवादी हैं। इन दोनों संप्रदायों में ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया गया है, तथा अद्वैतज्ञान के अनंतर भी भक्ति को स्थान दिया गया है। बहुत से लोगों की धारणा यह है कि रामदासी संप्रदाय वारकरी संप्रदाय से पूर्णतः स्वतंत्र संप्रदाय है। परंतु यह धारणा सर्वथा उचित नहीं है। दर्शन की दृष्टि से दोनों संप्रदाय एक ही हैं। अंतर केवल उनके उपास्य में है। श्रीकृष्ण अथवा पांडुरंग-वारकरी संप्रदाय में भगवान श्रीरामचंद्र-उपास्य हैं। उपास्य तथा उनके प्रवर्तकों के भेद के कारण उन्हें दो भिन्न नाम दिए गए। वैसे उनमें नाममात्र का ही भेद है। हमें केवल यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने इन दो संप्रदायों में न्यूनाधिक्य के अनुसार क्रम स्थापित करने का जो प्रयास किया, वह मूल संप्रदाय प्रवर्तकों का नहीं है।

अद्वैतवादी भागवत संप्रदाय

'भागवत संप्रदाय' के उच्चारण के साथ सामान्यतः लोगों के सम्मुख मध्व, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क इत्यादि भक्तिवादी वैष्णव संप्रदाय साकार हो जाते हैं। ये सभी भागवत संप्रदाय भक्ति का समर्थन करते हैं तथा द्वैतमतवादी हैं। इसलिए सामान्य व्यक्ति की यह धारणा हो जाती है कि जो भी संप्रदाय भक्तिवादी है, उसे द्वैतमतवादी होना ही चाहिए। इसके परिणामस्वरुप बड़े-बड़े विद्वान भी इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि भागवत संप्रदाय भक्तिवादी हो सकता है। वस्तुतः भक्ति और केवलाद्वैत परस्परविरोधी न हो कर वे एक-दूसरे के पूरक अंग हैं। केवल इतना ही नहीं, तो सच्ची भक्ति केवलाद्वैत के ज्ञान के सिवा संभव ही नहीं है, इसकी कल्पना करना सामान्य बुद्धि की पहुँच से परे है।

अद्वैत ज्ञानोत्तर भक्ति को स्वीकार करने वाले भागवत संप्रदाय का प्रचार-प्रसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित नहीं था, बल्कि हिन्दुस्तान के अन्य भागों में भी इस मत का प्रवर्तन हुआ। उत्तर हिंदुस्तान का तुलसीदासजी का संप्रदाय, गुजराथ प्रांत का नरसी मेहताजी का संप्रदाय, बंगाल का रामकृष्ण परमहंसजी का संप्रदाय - ये सभी संप्रदाय ज्ञानोत्तर भक्तिवादी संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों के उपास्य - दैवत यद्यापि भिन्न - भिन्न हैं, तथापि उन सब की भूमिका समान ही है।

अद्वैतमतवादी भागवत संप्रदाय शांकर संप्रदाय ही है

कई विद्वान मानते हैं कि केवलाद्वैत ज्ञान का भक्ति के साथ विरोध है, परंतु उसी केवलाद्वैतमत के आद्य प्रवर्तक भगवान श्रीशंकराचार्य स्वयं शिवभक्त तथा कृष्णभक्त थे, और उनकी भक्तिनिष्ठा आजन्म कायम रहती दिखाई देती है। अर्थात् आचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतज्ञान तथा उनके आचरण की भगवद्भक्ति में भगवान आचार्य की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है, यह बात अपने आप में स्पष्ट है।

भगवान शंकराचार्य के अनंतर अद्वैत वेदान्तियों में दो गुट निर्माण हुए एक भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का, तो दूसरा पंचपादिकाकार पदमपादाचार्य का। इसीको क्रमशः 'भामती-प्रस्थान' तथा 'विवरण-प्रस्थान' कहा जाता है। भामती प्रस्थानवादी पहले गुट का कहना है कि 'ज्ञानदेव तु कैवल्यम्' श्रुति के आधार पर ज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञान के अनंतर भक्ति आदि कुछ भा शेष नहीं रहता। इसके विपरीत विवरणकारों के गुट का कहना है कि ज्ञान से कैवल्य-प्राप्ति होने पर भी देहपात होने तक उपाधि यथावत् रहती है, अतः उपाधि को पूर्ण रूप से नष्ट करके जीवन्मुक्ति में विदेह मुक्तितुल्य परमानंदता को आत्मसात करने के लिए ज्ञानी को परमप्रेमस्वरुप भक्ति करनी चाहिए। अद्वैत सिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती, अप्पैया दीक्षित, भागवत के ख्यातिप्राप्त समीक्षक श्रीधराचार्य इत्यादि का समावेश इसी गुट में होता है। गीता पर की गई अपनी 'गूढार्थदीपिका' नामक समीक्षा में मधुसूदनजी ने ज्ञानोत्तर भक्ति का प्रतिपादन किया है। उसी प्रकार इस भक्ति का सोपपत्तिक विवरण करने के लिए उन्होंने 'भक्तिरसायन' नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की। पंचदशीकार विद्यारण्य ने सूतसंहिता की समीक्षा में और श्रीधराचार्य ने भागवत की समीक्षा में इस ज्ञानोत्तर भक्ति का विवेचन किया है। यह बात ध्यान में रखने-लायक है कि इन समस्त आचार्यभक्तों ने भक्ति का स्वीकार केवल साधनरुप में नहीं, बल्कि साध्य-रुप में किया है। अतः अद्वैतमतवादी रहते हुए भी भक्तिवादी होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाले भागवत संप्रदाय की कल्पना कोई नूतन कल्पना नहीं है। वह शांकर-संप्रदाय का ही एक प्रवाह है।

साहित्य का प्रमुख अंग दर्शन है

धर्म के ही समान किसी भी संप्रदाय के दो मुख्य अंग होते हैं - दर्शन तथा आचार-संहिता। आचारसंहिता पर मुख्य रुप से दर्शन का परिणाम होता है, अतः दर्शन की दृष्टि से ही इस साहित्य का विचार करना चाहिए। परंतु इस विषय में आज एकरुप विचारप्रणाली नहीं दिखाई देती। भागवत धर्म के अनुयायियों के साहित्य में द्वैत-अद्वैत, सगुण-निर्गुण, ज्ञान-अज्ञान, माया-शक्ति इत्यादि परस्परविरोधी मानी जाने वाली समस्त बातों का उल्लेख तथा प्रतिपादन पाया जाता है अतः वह दर्शन बेमेल नहीं प्रतीत होता, बल्कि लगता है कि विभिन्न मतों का मिश्रण है। परिणामतः प्रत्येक विद्वान अपने-अपने मत के अनुसार विवेचन करते हुए उसकी पुष्टी करने लगता है। सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि सत्य क्या है? अतः प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि इस भागवत धर्मानुयायियों के दर्शन का विचार कैसे किया जाए?

वस्तुतः भागवत संप्रदाय के ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, रामदास, एकनाथ इत्यादि संतो के साहित्य में संप्रदाय का तात्त्विक विन्यास श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने किया। ज्ञानेश्वरजी के श्रीज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव-पासष्टी, अभंग आदि ग्रंथों में भागवत धर्म की तात्त्विक का भूमिका का सोपपत्तिक विवेचन किया गया है। संप्रदाय के परवर्ती संतो ने उसी तत्त्व का भाष्यरुप से व्याख्यान भी किया है। ज्ञानेश्वरजी की उक्तियों का अर्थ इतना गहरा है कि अतंतः तुकाराम महाराज ने यह कहते हुए उनके चरणों पर माथा टेक दिया, कि वे उनके अर्थ की गहराई को समझ नहीं पाए -

'तुका म्हणे नेणो युक्तिचिया खोली। म्हणोनि ठेविली पायी डोई।'

वैसे आधुनिक बुद्धिवादी विश्व में तुकाराम महाराज की इस नम्रता के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है। आज की बुद्धि के लिए कुछ भी अगम्य नहीं है।

वैसे यह कोई नयी बात नहीं है कि किसी भी बात का विचार बुद्धि के सहारे करना चाहिए। प्रश्न केवल इतना ही है कि उस बुद्धि का प्रयोग कैसे किया जाए? समग्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रुप से पूर्णतः पठन करने के उपरान्त यदि बुद्धि से निर्णय किया जाए तो किसीको आपत्ति नहीं उठानी चाहिए। परंतु ऐसा हुआ नहीं है।

विवरण-प्रस्थान के अध्ययन की आवश्यकता

जैसा कि हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है, महाराष्ट्र का अद्वैत - भक्तिवादी संप्रदाय का ही एक हिस्सा है। अतः इस संतसाहित्य को उचित पद्धति से समझने के लिए शांकर-दर्शन के विवरण-प्रस्थानवादियों ने जो संस्कृत ग्रंथ लिखे हैं, उनका समूल अध्ययन नितांत आवश्यक है। परंतु वस्तुस्थिती ऐसी नहीं है। पंचदशी से परे अद्वैत-वेदान्त के ग्रंथो का पठन आजकल कोई नहीं करता। उनमें भी भामती-प्रस्थानवादियों के ग्रंथ जितनी मात्रा में पढे जाते हैं, उतनी मात्रा में आचार्य के साक्षात् शिष्यों-पद्मपाद, सुरेश्वर इत्यादि के ग्रंथों का पठन नहीं होता। परिणामतः प्रस्थानवादियों ने जिस सगुण-निर्गुण का विवरण किया है, उसके विषय में हमें कोई ज्ञानी नहीं होता, इसिलिए हमें 'स्याद्वाद' की शरण लेनी पड़ती है। उदाहरण के लिए -

'एरव्ही सच्चितानंद भेदें। चालली तिन्ही पदें। परी तिन्ही उणे आनंदें। केली एके।।'

अमृतानुभव के प्रस्तुत श्लोक का अर्थ पूर्ण रुप से ग्रहण करने के लिए पद्मपादाचार्य की इस पंक्ति का पूर्ण ज्ञान अत्यावश्यक है -

'आनंदो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः
ब्रम्हणोऽपृथकत्वेऽपि पृथऽगिवाव-भासन्ते।'

परंतु यदि संस्कृत ग्रंथो को मराठी के विरोध में ही रखा जाए, तो उनका अध्ययन कैसे किया जाए?

श्री ज्ञानेश्वरजी के भाष्यकार तुकारामादि सन्त

व्याकरणशास्त्र के एक परिभाषासूत्र में बताया गया है, कि किसी सिद्धान्त के विषय में संदेह उत्पन्न हो जाने पर यह नहीं कहना चाहिए कि वह सिद्धान्त गलत है बल्कि उसका स्पष्टीकरण करने वाले भाष्यों का अध्ययन करके संदेहों का निराकरण कर लेना चाहिए। (व्याख्यानतो विदोषपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्।) परंतु आधुनिक बुद्धिवादियों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह बात भी नहीं जँचती। वस्तुतः पूर्ववर्ती संतो के ग्रंथों का स्पष्टीकरण परवर्ती संतो के ग्रंथो में किया जाता है। इसीलिए ज्ञानेश्वर महाराज के ग्रंथों का उचित अर्थ ग्रहण करने के लिए नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, रामदास इत्यादि के ग्रंथों का परिशीलन करना होगा। महाराज के प्रत्येक शब्द के विषय में जितनी पूज्य बुद्धि उनके संप्रदाय के संतों के मन में रहेगी, उतनी हमारे मन में नहीं रह सकती। उनके संप्रदाय के संत कम से कम अर्थ की खींचातानी तो नहीं करेंगे।

शांकर दर्शन तथा भागवत संप्रदाय का समान ध्येय

प्रत्येक संप्रदाय किसी न किसी ध्येय से प्रवृत्त होता है। भारतीय दर्शन में तो यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। अतः हिंदुस्तान का कोई भी दार्शनिक अपने दर्शन के प्रयोजन को स्पष्ट किए बिना अपने दर्शन के विषय में कुछ भी नहीं कहता। केवल ज्ञान के लिए ज्ञान अथवा कर्म के लिए कर्म की कल्पना अभारतीय है। भारतीय दर्शनकारों का कहना है कि प्रयोजन के अभाव में मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य के लिए प्रेरित नहीं होता (प्रयोजनमनुद्देश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते।) परंतु आज के विद्वान इस बात को स्वीकार नहीं करते। किसी दर्शन को सही अथवा गलत सिध्द करने का कोई न कोई प्रमाण होना चाहिए। केवल विचार के लिए विचार संभव नहीं है। ख्यातिप्राप्त भारतीय दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के अनुसार किसी भी बात के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं - संदिग्धता और प्रयोजन। जिस स्थान पर इन दो बातों का अभाव है, उस स्थान पर जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। जो बात पहले ही स्पष्ट है उसके विषय में जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हो सकती है? (यदसंदिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षा वत्प्रतिपित्सागोचरः।)

मनुष्य का ध्येय आत्यंतिक सुखप्राप्ति

मनुष्य के समस्त व्यवहारों का विश्लेषण करने के उपरान्त एक बात स्पष्ट हो जानी है कि मनुष्य का सारा व्यवहार सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति के लिए होता है। उसे नहीं लगता कि सुख क्षणिक हो। उसी प्रकार दुख की क्षणिक निवृत्ति भी वह नहीं चाहता। उसे प्रतीत होता है कि उसे नित्य सुख की ही प्राप्ति हो तथा दुख कभी भी न मिले। इसलिए किसी भी क्रिया के लिए प्रवृत्त होते समय इस सुप्त इच्छा को मन में रख कर ही वह व्यवहार करता है। इसीको दर्शनकारों ने 'आत्यंतिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानंद-प्राप्ति' कहा है। भागवत संप्रदाय के अनुयायियों ने इसीको अपने संप्रदाय का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोजन माना है। इसी ध्येय को परब्रह्म, ईश्वर, भगवान आदि भिन्न-भिन्न नाम दिए गए हैं।

आत्यंतिक सुख का साधन अविवेकी प्रेम

जो भी इस आत्यंतिक सुख को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें मोक्षप्राप्ति कराने का आश्वासन भागवत संप्रदाय केअनुयायियों ने दिया है और उनका आग्रहपूर्वक कथन है कि इस मार्ग से प्राप्त होने वाले मोक्ष में हम जिस परमानंदता को आत्मसात् करेंगे, वह ब्रह्मज्ञानी को भी दीन वनाने वाली तथा मुक्त व्यक्ति को भी आत्मस्थिति का त्याग करने के लिए वाध्य करनेवाली होती है। (घोटवीन लाळ ब्रह्मज्ञाना हातीं। मुक्ता आत्मस्थिती सांडवीन।) इससे हमारी यह धारणा हो जाती है कि इतने बडे सुख की प्राप्ति के लिए अवश्य ही अत्यंत परिश्रमयुक्त साधना करनी पडेगी। परंतु इस विजय में भी संतों ने हमें निर्भय वना दिया है। सामान्य लोगों के स्थान पर होने वाला स्त्री-पुत्रादि का प्रेम इस मार्ग का एक उपयुक्त साधन है। अंतर केवल इतना ही है कि उस प्रेम का आलंबन स्त्री-पुत्रादि न रह कर आत्यंतिक सुखरुप सगुण ब्रह्म होता है। इसीको भगवान श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्र इत्यादि नाम दिए गए हैं। इस प्रेम की शर्त केवल इतनी है कि यह प्रेम अविवेकी व्यक्ति का होना चाहिए, क़िसी विचारवंत का नहीं। अविवेकी व्यक्ति के प्रेम के विषय के अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं रहता। उस विषय में वह अपने देहभान को भी विस्मृत कर देता है। उस प्रकार की प्रीति श्रीरामकृष्णादि के स्थान पर होनी चाहिए। फिर उसके लिए कोई भी शमदमादि साधन-संपत्ति को आत्मसात् न किया जाए, तो भी कोई हर्ज़ नहीं है। (या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनुपायिनी ! त्वामनुसारतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।)

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

जिस आत्यंतिक सुख की प्राप्ति को मोक्ष, ईश्वर, भगवान, परब्रह्म इत्यादि नाम दिए जाते हैं, वह परब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण-इसके विषय में दार्शनिकों में अत्यंत मतभिन्नता है और उसीके आधार पर भिन्न-भिन्न संप्रदायों का निर्माण हुआ है। भागवत मत के अनुयायियों ने इस विवाद को शुष्क और निरर्थक बताते हुए यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी और इस विवाद को समाप्त कर दिया। 'ब्रह्म सगुण निर्गुण। तुका आरंभी कीर्तन।' वस्तुतः ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं और परब्रह्म वस्तु इन दोनों से भिन्न है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'सगुण निर्गुण गुणांचे अवगुण हरिविणे मन व्यर्थ जाय।'

भागवत-धार्मियों के सगुण और निर्गुण शब्दों के अर्थ पर थोडा विचार-विमर्श करना अनुचित नहीं होगा। 'गुण' शब्द मूलतः सांख्यशास्त्र का है। सत्व, रज, तम-प्रकृति के ये तीन गुण पुरुष को रज्जु के समान बद्ध करके रखते हैं। इसीलिए उन्हें गुण कहा जाता है। अतः सत्व, रज और तम गुणों से युक्त जो सगुण है, वह सीमित, नाशवंत तथा प्राकृतिक परिणाम सिद्ध होता है। ये तीनों गुण परब्रह्म के स्थान पर नहीं रहते। परब्रह्म उनसे भिन्न है, यह प्रतिपादित करने के लिए परब्रह्म के स्थान पर इन गुणों के विरोधी 'निर्गुण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। भगवान आचार्य ने अपने गीताभाष्य में इस बात को स्पष्ट किया है -

'निर्गुण सत्वरजस्तमांसि गुणास्तैर्वर्जीतम्।' (गी. भा. १३ - १४)

सगुण का दूसरा अर्थ है 'गुणगुणीभावविरहित।' जब यह कहा जाता है कि परब्रह्म सच्चितानंदस्वरुप है, तब परब्रह्मरुप आधार के स्थान पर सच्चितानंद गुणों की कल्पना की जाने का संभंव होता है। इस आधार - आधेय की कल्पना का त्याग करके परब्रह्म ही सच्चिदानंद है और सच्चिदानंद ही परब्रह्म है, इस कल्पना को ग्रहण करने के लिए यह कहा जाता है कि परब्रह्म निर्गुण अर्थात् गुणगुणीभावविरहित है। श्रीज्ञानेश्वरमहाराज ने 'अमृतानुभव सच्चिदानंद पदंत्रय विवेचन' में गुड और उसकी मधुरता, कर्पूर और उसकी सुगंध आदि उदाहरणों के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है। इस स्थान पर हम यह अवश्य कहना चाहेंगे कि अमृतानुभव का यह समस्त विवरण शांकर-दर्शन से मेल नहीं खाता।

आधुनिक विद्वान निर्गुण परब्रह्म की कल्पना का सहजता से और रुचिपूर्वक स्वीकार करते हैं। क्योंकि निर्गुण होने के कारण परब्रह्म उनके जीवन में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं कर सकता। शायद ये विद्वान इस निर्गुण परब्रह्म की कल्पना किसी पत्थर के समान करते हैं। परब्रह्म निर्गुण होने पर भी चैतन्यरुप है, और अत्यंत व्यापक रुप में चैतन्यरुप है। चैतन्य का धर्म है-ज्ञान। इसी चैतन्य का लाखांश यह ज्ञानरुप जीव अपने अल्पज्ञान के आधार पर ब्रह्माण्ड को अपने वश में करने की भाषा बोल सकता है। परंतु हम यह समझ नहीं पाते कि वह यह कल्पना कैसे कर लेता है, कि इसीका आधाररुप अमर्याद चैतन्य कुछ भी नहीं कर सकता। परब्रह्म सच्चिदानंदरुप है और यही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सच्चिदानंदरुपता परब्रह्म की शक्ति है। उसके स्थान पर चैतन्य और आनंद-धर्म का स्फुरण होता रहता है। पत्थरादि जड वस्तु के समान वह स्फुरणरहित नहीं है। इसलिए परब्रह्म के स्थान पर जो सगुणत्व का निषेध किया जाता है, वह सत्वरजतमोगुणयुक्त सगुण का किया जाता है। इसीलिए उसे निर्गुण भी कहा जाता है। इस दृष्टि से निर्गुण परब्रह्म सच्चिदानंद रुप से सगुण भी रह सकता है, परंतु उसकी सगुणता निर्गुणता के विरोध में नहीं होती। भागवत धर्म के अनुयायियों ने जिस सगुण को स्वीकार किया है, वह सगुण सत्व, रज, तम से परे होने वाला सच्चिनंदात्मक सगुण है।

व्यापक और अव्यापक

सगुण और निर्गुण शब्दों के समान व्यापक और अव्यापक शब्दों के विषय में लोगों में गलतफहमी दिखाई देती है। उन्हें लगता है कि निर्गुण परब्रह्म के ज्ञान में व्यापक ज्ञान है, तो सगुण परब्रह्म के ज्ञान में मर्यादित अखवा एकदेशीयज्ञान होता है। परंतु वैचारिक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्मज्ञान में होने वाले ज्ञान में तथा भक्ति के सगुण ब्रह्मज्ञान में कोई भी अंतर नही होता।

नामरुपात्मक मर्यादित पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेने की हमारे मन को आदत-सी हो गई है। हमारा मन नामरुपविरहित-अमर्याद वस्तु का आकलन नहीं कर सकता। जिस मन की वृत्ति से हम ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं, वह वृत्ति भी सीमित होती है। अतः वृत्ति के परिप्रेक्ष्य में आने वाला समस्त ज्ञान मर्यादित होता जाता है। अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि ब्रह्मज्ञान में वृत्तिव्याप्ति से ज्ञान होता है। अर्थात् वृत्ति जिस समय वृत्ति के आधारभूत चैतन्य को ग्रहण करती है, उस समय वह ब्रह्म वृत्ति तक सीमित हो जाता है। समुद्र का ज्ञान प्राप्त करते समय हमारी दृष्टि की सीमा में जितना समुद्र आता है, उतने ही समुद्र का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। परंतु बात करते समय हम यह नहीं कहते कि हमें मर्यादित समुद्र का ज्ञान हो गया। यही कहते हैं कि हमने असीम सागर के दर्शन कर लिए। और यह कहना अनुचित भी नहीं है। इसका कारण यह है कि शेष समुद्र भी वैसा ही है, यह हमारा ज्ञान उस समय भी कायम ही रहता है। अमर्यादित वस्तु के विषय में यह समझना कि वह वस्तु अमर्यादित है, यही उसके विषय में ज्ञान को प्राप्त करना है। ब्रंह्मज्ञान में वृत्ति के परिप्रेक्ष्य में आने वाले ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। परंतु फिर भी हमारा यह ज्ञान तो कायम ही रहता है कि शेष ब्रह्म भी उसी प्रकार का है - अतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह माना जाता है कि अमर्याद ब्रह्म का ज्ञान हो गया। इस दृष्टिकोन से विचार करने पर भागवत मत के अनुयायियों के मतानुसार जिस अर्थ से ब्रह्मज्ञान में ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी व्यापक अर्थ से भक्ति में भी ब्रह्मज्ञान होता है कि यह वृत्ति ज्ञानवृत्ति न हो कर प्रेमवृत्ति होती है। वृत्ति के आधांर-स्वरुप ब्रह्म की ओर इस प्रेमवृत्ति का प्रवाह प्रवहमान होता है और वह ब्रह्म प्रेमवृत्ति से व्याप्त हो जाता है। इसमें ब्रह्मज्ञान की तरह वह ब्रह्म प्रेमवृत्तिव्याप्त हो जाता है अर्थात् सगुण बन जाता है और वह ज्ञान 'मर्यादित इव' हो कर भी उसकी असीमता में कोई कमी नहीं आती।

भक्त की प्रीतिवृत्ति का प्रवाह जब परब्रह्म की तरफ प्रवाहित हो जाता है तब वह परब्रह्म भी ज्ञानरुप और प्रेमरुप होने कारण भक्तों के प्रेम से छलक जाता है तथा भक्त की रुचि के अनुसार नामरुपात्मक बन जाता है। भक्त को इस सगुणतत्व में परब्रह्म की असीमता का विस्मरण कभी नहीं होता। 'न तत्र महात्म्यज्ञानाविस्मृत्यपवादः।' अर्थात् असीमता का एहसास नहीं छूटता, अतः सीमित रुप से भासमान होने वाला सगुण रुप भी असीम होता है। तुकाराम महाराज कहते हैं -

'रुपरेखा नाही जयासि आकार। तो आम्ही साकार भक्ती केला।'

नामदेव महाराज के शब्दों में -

'निर्गुणीचे वैभव आले भक्ति विणे। ते हे विठ्ठल ठसावले।'

इन संतों के सगुण ज्ञान में निर्गुणज्ञान का लोप नहीं हुआ है। जल ही जल के साथ क्रीडा करता है और उसमें साकारत्व निर्माण होता है, तब ऐसा प्रतीत नहीं होता कि मूल जल का ज्ञान लुप्त हो कर उसके विरोध में कुछ उत्पन्न हो गया हो। फिर जल के स्थान पर भासमान होने वाले नामरुपात्मक साकार ने क्या कोई क्षति पहुंचायी है? अधिष्ठान के ज्ञान का लोप करके यदि साकारत्व भासमान होता हो, तो उसे एकदेशीय, मर्यादित और भ्रमरुप कहा जा सकता है, परंतु यदि ऐसा नहीं है तो उसे मूल वस्तु का विलास ही कहना चाहिए।

द्वैत और अद्वैत

सगुण और निर्गुण शब्दों के समान द्वैत और अद्वैत शब्दों के बारे में भी लोगों में विपरीत धारणा दिखाई देती है। बहुत से लोगों की विचित्र धारणा होती है कि जिस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अवस्था में कुछ भी नहीं रहता, वैसी लगभग शून्य सी अवस्था ही अद्वैतदशा है। अद्वैत का अर्थ मात्र इतना है कि द्वैत असत्य है अर्थात् स्वतंत्र सत्तात्मक द्वैत नहीं होता। इसलिए शांकर वेदान्त में अद्वैत की कल्पना प्रस्तुत करते समय कहा गया है कि हम भेद का निषेध करते हैं - (भेदं व्यासेधयामः किंवा पृथकसत्ताशून्यत्वं साधते न तु ऐक्याभिप्रायेण।) परब्रह्म यदि चिद्रूप और आनंदरुप है तो उसके स्थान पर ज्ञान का अथवा प्रेम का स्फुरण होना अनिवार्य है। इस स्फुरण में वैसी ही बात होती है, मानो जल पर लहरे उठती हों और एक ही जल के स्थान पर लहरें तथा लहरों के आधाररुप जल का द्वैत उत्पन्न हो जाता हो। परंतु लहर और जल - इन दो शब्दों का प्रयोग करने पर भी हमारे ज्ञान में दो भिन्न वस्तुओं की कल्पना प्रविष्ट नहीं होती, बल्कि केवल एक ही वस्तु यथावत् रहती है। क्या यह द्वैत एकत्व ही नहीं है? ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं -

'हे एकचि नव्हे एक सरे। दोहां दोहीपणा नाही पुरे।
काई नेणो साकारें। स्वरुपी इये।'

यदि एकत्व कहा जाए, तो भी आधेय और आधार का द्वैत भासमान होता है, परंतु द्वैत कहा जाए तो उन दोनों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। यह नहीं वताया जा सकता कि उनका साकारत्व किस प्रकार का है। नामरुपों के कारण भासमान होने वाला साकारत्व यदि अधिष्ठान के ज्ञान को कायम रखते हुए भासमान होता हो तो वह साकारत्व निराकारत्व के समान ही श्रेष्ठ है। भगवान आचार्य ने कहा है कि ब्रह्म से नामरुपों को अलग रखने पर यदि उनकी प्रतीति एक स्वतंत्र वस्तु के रुप में होती हो, तो वे मिथ्या हैं, और यदि वे ब्रह्म से एकरुप हो कर भासमान होते हों, तो वे सत्य ही हैं -(अतः सदात्मना सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं स्वतोन्यत्वेचानृतत्वमिति। छं. ६ - ३ - २.) जव द्वैत असत्य अर्थात् मूल वस्तु का ही विलास प्रतीत होता है, तव उसे अद्वैत कहा जाता है और इसके विपरीत मूल वस्तु को विस्मृत करके भासमान होने वाला द्वैत जव स्वतंत्र प्रतीत होता है, तव उसे द्वैत कहा जाता है।

संतों ने जिस सगुण ब्रह्म का स्वीकार किया है वह निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को कायम रखते हुए निर्गुण के सच्चिदानंदादि गुणों से युक्त भासमान होता है, अतः वह सगुण होने पर भी निर्गुण है। निर्गुण-सगुण में श्रेष्ठ और कनिष्ठ भाव को ढूँढना एकनाथजी के मतानुसार 'मूर्खता' है। (निर्गुणाहूनि सगुण न्यून। म्हणे तो केवळ मूर्ख जाण। सगुण निर्गुण दोन्ही समान। न्यून पूर्ण असेना।)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारे सहित समस्त जगत् चिद्विलास ही है

अब तक हमने देखा कि संतों के प्रेम का आलंबन सगुण ब्रह्म सगुण-निर्गुणादि-सापेक्ष तथा कल्पनारहित है। अब तक नामरुपात्मक सगुण विश्व के बारे में कुछ विचार विमर्श करेंगे। भागवतमतवादियों की मान्यता है कि सच्चितानंदरुप ब्रह्म से समस्त जगत् का निर्माण हुआ, और वही स्वसंवेद्य आत्मरुप जगत् का आद्य तत्त्व है।

ॐ नमोजी आद्या। वेद प्रतिपाद्या। जय जय स्वयंवेद्या। आत्मरुपा।

इस प्रकार के चिद्रूप तथा आनंदरुप ब्रह्म से निर्मित समस्त विश्व भी स्वाभाविक रुप से चिद्रूप और आनंदरुप है। मृत्तिका से निर्मित घट जैसे मृत्तिकारुप होता है, उसी प्रकार ज्ञानरुप और आनंदरुप ब्रह्म से निर्मित जगत् ज्ञानरुप और आनंदरुप है। जिन महापुरुषों को विश्व का प्रत्यय ज्ञानरुप से तथा आनंदरुप से प्राप्त होता हो उन्हें यथार्थज्ञानी तथा इसके विरोधी प्रत्यय को प्राप्त करने वालों को अयथार्थज्ञानी कहा जाएगा। हमें स्वयं सोच लेना चाहिए कि इन दो प्रत्ययों में से हम किस प्रत्यय को प्राप्त करते हैं? अयथार्थ प्रत्यय ही अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। शांकर - वेदान्त में जिसे अज्ञान, माया, भ्रम इत्यादि नाम दिए जाते हैं, वह अज्ञान ही विपरीत ज्ञान है। भागवत मत के अनुयायियों का सिद्धान्त है कि सच्चिदानंदरुप ब्रह्म के सिवा अन्य कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती, अतः हमारे सहित नामरुपादि से भासमान होने वाला यह समस्त विश्व सच्चिदानंदरुप है। इसी सिध्दान्त को शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है -

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

यदि शांकर वेदान्त के ब्रह्म के सच्चिदानंदादि धर्मों से जगत् की प्रतीति प्राप्त न होती हो, और उसी धर्म के विरोधी असत्, जड और दुखरुप धर्म की प्रतीति प्राप्त होती हो, तो इस प्रकार के विपरीत धर्मों से भासमान होने वाला जगत् मिथ्या अर्थात् असत्य एवं भ्रमरुप अर्थात् अयथार्थ है, ऐसा शांकरवेदान्त का कहना है। 'जगन्मिथ्या' कहने वाले दार्शनिक जगत् के नामरुप में कोई बदलाव नहीं चाहते। मायावाद, अज्ञानवाद और भ्रमवाद बताता है कि जगत् के प्रति देखने की यथार्थ ज्ञान की दृष्टि कौनसी होनी चाहिए। जगत् के प्रति देखने का दृष्टिकोन यदि यथार्थ ही हो, तो दर्शन की आवश्यकता ही क्या है? जैसा कि भामतीकार ने प्रतिपादित किया है, असंदिग्ध वस्तु के विषय में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। विश्व में हमें सुख और दुःख भासमान होते है। पूर्ण सुखरुप ब्रह्म के स्थान पर दुःख की प्रतीती कैसे उपस्थित हो गई? सुख और दुःख - दोनों को ब्रह्म के धर्म स्वीकार करने पर ब्रह्म को अत्यंत विरोधी धर्मों से युक्त मानना पडेगा। वैसा मानने पर भी, उसे ब्रह्म का स्वभावधर्म स्वीकार करने पर भी दुःख को नष्ट करने की इच्छा क्यों जाग्रत होती है? वस्तु कभी भी अपने स्वाभाविक धर्म का त्याग नहीं करना चाहती। स्वाभाविक धर्म का त्याग करना अपने आप का विनाश करना है। दुःख के सिवा सुख की कल्पना नहीं कि जा सकती, अतः कोई यह कहेगा कि मुख के लिए दुख की आवश्यकता है। इस कथन के अनुसार दुःख को सुख का साधन मानने पर जिस प्रकार सुख अनुकूल संवेदना है, उसी प्रकार दुःख को भी उसका साधन होने के कारण अनुकूल संवेदना ही मानना पड़ेगा। परंतु दुःख की अनुकूलता की तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। सुख और दुःख इतनी परस्परविरोधी संवेदनाएँ हैं कि एक संवेदना के रहते दूसरी नहीं रह सकती। यह तो सत्य है कि दुख की अपेक्षा से सुख का एहसास होता है। परंतु सुख का एहसास सुख नहीं है। वह सुख की भोक्तृत्वदशा है। 'मैं सुखी हूँ' कहने के क्षण से पूर्व जो एहसासरहित स्थिति होती है, उसे सुख कहते हैं। संक्षेप में, ब्रह्म यदि सुख-रुप हो, ज्ञानरुप हो और सद्रूप हो तो वह दुःखरुप, जडरुप तथा असद्रूप नहीं रह सकता। उससे निर्मित समस्त जगत्रुप आडंबर को भी वैसै ही होना चाहिए। यदि हमें वैसा प्रत्यय प्राप्त न होता हो, तो यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि हमारी दृष्टि अयोग्य है। इसीको अज्ञान कहा जाता है।

अमृतानुभव का चिद्विलास

अमृतानुभव में प्रस्तुत चिद्विलास का वर्णन पढ़ कर कुछ विद्वान कहते हैं कि श्रीज्ञानेश्वर महाराज आचार्य के मायावाद अथवा अज्ञानवाद को स्वीकार नहीं करते। परंतु आचार्य भी तत्त्वतः अज्ञान का स्वीकार कहाँ करते हैं? यदि वे तत्वतः अज्ञान का स्वीकार करते तो उसकी निवृत्ति कभी नहीं होती। आचार्य यही कहते हैं कि सर्वत्र चिद्विलासवाद है और जिन शुकाचार्यादि को वैसी प्रतीति प्राप्त होती है, उन्हें वे अपना मायावाद नहीं बताते। आचार्य के एक शिष्य ने उनसे प्रश्न किया कि 'महाराज, इस अज्ञान का आभास किसे होता है?' तब आचार्य ने उत्तर दिया कि - 'तुम ही इस प्रश्न का उत्तर दो, क्योंकि मुझे अज्ञान भासित नहीं होता। तुम ब्रह्म के विरोधी धर्म की प्रतीति के बारे में बात करते हो, इसलिए मुझे यह कहना पड़ता है कि वह अयोग्य है।'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिन अन्य वेदान्तियों ने आचार्य के अज्ञान पर आपत्ति उठायी, उनसे भी एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि 'जब आप स्वयं अज्ञान को नहीं मानते, तब औरों को अपने संप्रदाय का उपदेश क्यों देते हैं? आपके संप्रदाय का यथार्थ ज्ञान औरों को नहीं है। उस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति उन्हें हो, इस कल्पना को गृहीत तथ्य माने बिना क्या आप उन्हें ज्ञान का उपदेश दे सकते हैं?' हम अपने संप्रदाय के द्वारा औरों को यथार्थ ज्ञान कराते हैं, यह कहना अज्ञान - कल्पना का स्वीकार नहीं तो क्या है? विपरीत ज्ञान की कल्पना ही अज्ञान है। उसे गृहीत तथ्य स्वीकार करने पर ही सब को अपने ज्ञान का उपदेश दिया जा सकता है।

भागवतमतानुयायियों के शिव और शक्ति

अमृतानुभव में जिस शिव और शक्ति का वर्णन किया गया है, वह शांकर-दर्शन के अलावा अन्य किसी वैष्णव-संप्रदाय से मेल नहीं खाता। ज्ञानेश्वर महाराज ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्पष्ट किया है कि इस समस्त वर्णन में यद्यपि शिव और शक्ति नामक दो भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है तथापि उन दोनों का अर्थ वस्तुतः एक ही है। शिव का विचार करने पर शक्ति ही आती है। शक्ति के विचार में शिव भी आता है। जिस प्रकार सूर्य के स्थान पर दीप्ति होती है और दीप्ति में सूर्य भी समाविष्ट होता है, उसी प्रकार शिव और शक्ति का द्वैत सम्मिलित रुप से एकत्व ही है -

जैसी सूर्यी मिरवे प्रभा। तैसी सूर्यत्वचि गाभा।
तैसी भेद गिळित शोभा। एकचि जें।

बिंब प्रतिबिंब का बोध करता है और प्रतिबिंब के कारण बिंब का अनुमान होता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु द्वैत के बहाने से प्रतीत होती है -

का बिंब प्रतिबिंबा द्योतक। प्रतिबिंबा बिंब अनुमानक।
तैसे द्वैतमिसे एक। मिरवित असे।

जब वस्तु एक ही है, तब यह द्वैत किसलिए? इसका उत्तर है - कि चैतन्य वस्तु पत्थर नहीं है इसलिए। 'चैतन्येहि स्फुरणं स्वाभाविकं -' चैतन्य के स्थान पर ज्ञानरुप का स्फुरण होना स्वाभाविक है। इसीलिए ज्ञान और ज्ञानवृत्ति का द्वैत भासमान होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परंतु एकत्व को अवाधित रखते हुए ही यह द्वैत भासमान होता है। वह वस्तु का रिलास है। जव हम अपने आप को जानने का प्रयास करते हैं, तव हमारे स्थान पर होने वाला द्वैत अपने एकत्व को कायम रखता है -

तैसे आपणया आपण। जाण ते नव्हे जाण।

भोग्य और भोक्ता, दृश्य और द्रष्टा इस अटूट अद्वैत में नष्ट हो जाते हैं।

तैसे भोग्य आणि भोक्ता। दिसे आणि देखता।

हे सरले अद्वैता। अफुटा माजी।

जव चिद्रूप वस्तु का चिद्रूप से स्फुरणरुप विलास होता है, तव हमारा ध्यान मूल तत्त्व की ओर नहीं रहता, अतः हमें वह कुछ और ही प्रतीत होता है। परिणामतः स्फुरण मूल से अलग हो जाता है और पूर्ण द्वैत निर्माण हो जाता है। तव मूल वस्तु के विपरीत धर्म की अर्थात् जड की प्रतीति हमें प्राप्त होती है। शंकराचार्य के समान भागवतमतानुयायी इस वात को आचार्य - वेदान्त से ठीक तरह से परिचित कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

निखिल ज्ञानमात्रदशा के तीन चरण

द्रष्टादृष्यविरहित, निखिल ज्ञानमात्र, एकरुप और एकरस अनुभवामृत को प्राप्त करने के लिए भागवत मत के अनुयायियों ने ज्ञान के तीन चरणों की कल्पना की है। अनुभवामृत प्राप्त होने से पूर्व दो चरण हैं तो तीसरा तथा अंतिम चरण अनुभवामृत का है। इन तीन चरणों को ठीक से समझ लेने पर ही इस वात की कल्पना की जा सकती है कि अमृतानुभव ग्रंथ में श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने अज्ञान का और साथ ही साथ ज्ञान का भी खंडन किया है?

सर्वप्रथम चरण हमारी आज की प्रतीति का है। अत्यंत सुखरुप और ज्ञानरुप प्रतीति के स्थान पर उसके विपरीत धर्म के दुखरुप और जडरुप की प्रतीति हमें प्राप्त होती है। यह स्थिति हमारी विपरीत धारणा के कारण होती है। परंतु इस विपरीत धारणा को ही यथार्थ मान कर हमारा समस्त व्यवहार होता है। अहंकार के कारण हम अत्यंत व्यापक चैतन्य के साथ होने वाला संवंध तोड देते हैं और इस धारणा से वद्ध रहते हैं कि साढे-तीन हात लम्वाई की मेरा देह ही मैं हूँ। परिणामस्वरुप हम अपने देह को तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके सुख के कारणस्वरुप समस्त पदार्थों को अपने ज्ञान का और प्रेम का विषय मान लेते हैं। हमारी व्याप्ति उससे परे नही पहुंच सकती। वस्तुतः हमारे स्थान पर इस व्यापक एहसास का निर्माण होना चाहिए, कि मैं समस्त ब्रम्हांड को व्याप्त करने वाला चैतन्य हूँ - परंतु वैसा नहीं होता। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने इस बात को अत्यंत आकर्षक पद्धति से स्पष्ट किया हैं -

'अर्जुनपण न घेता। मी ऐसे जे पंडुसुता।
उठे तेंचि तत्वतः। स्वरुप माझे।।'

हे अर्जुन 'मैं' के उच्चारण के साथ ही अर्जुनत्व का अस्वीकार करने पर तुम्हारा जो स्वरुप शेष रहता है, उसीको मेरा यथार्थ स्वरुप समझ लेना। अहंकार के कारण उत्पन्न अव्यापकत्व का एहसास ही समस्त विपरीत प्रतीति का कारण है। अतः यदि इस एहसासा को नष्ट करना है, तो इसके विरोधी व्यापकत्व - कि मैं व्यापक हूँ अथवा ब्रह्म हूँ - के एहसास को हमारे मन में अंकित करना आवश्यक है। इसीको 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान कहा जाता है। यही ज्ञान दशा है। यह ज्ञान का दूसरा चरण है।

भागवत धर्मानुयायियों के मतानुसार अज्ञान और ज्ञानदशा दोनों ही निखिलज्ञानरुप तथा आनंदरुप वस्तु की दृष्टि से सापेक्ष हैं और इसीलिए अज्ञान की हैं। निद्रा से जागृत व्यक्ति यदि बार - बार कहने लगे कि 'मैं जागृत हो गया हूँ' तो सुननेवाले को यही लगेगा कि यह व्यक्ति अभी भी निद्रा से पूरी तरह जागृत नहीं हुआ है। जागृतावस्था का एहसास निद्रा की अपेक्षा से होने के कारण 'मैं जागृत हो गया हूँ' कहते समय निद्रा का स्मरण यथावत् है। जब यह स्मरण भी नष्ट हो जाएगा तभी कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति वास्तव में जागृत हो गया है। 'मैं ब्रह्म हूँ' का व्यापकत्व का एहसास ही यथार्थ ज्ञान है, परंतु यह एहसास पहले होने वाले अब्रह्मप्रत्यय का स्मरण दिलानेवाला होता है, अतः इस एहसासा का नष्ट हो जाना आवश्यक है। जब अब्रह्मप्रत्यय मूलतः असत्य ही है, तब उसका नष्ट हो जाना भी असत्य नहीं तो क्या है? जिस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान की यह स्थिति है, उसी प्रकार 'मैं अव्यापक हूँ' 'मै कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ' इत्यादि अज्ञान का एहसास भी असत्य ही है। ब्रह्म के स्थान पर नित्य ज्ञान होते हुए भी कौन कहता है कि मैं अज्ञानी हूँ? ब्रह्म अत्यंत सुख-रुप होते हुए भी कौन कहता है कि मै दुखी हूँ? चाहे जितना विचार-विमर्श करने पर भी अज्ञान नामक वस्तु सिद्ध नहीं होती। अतः मैं अज्ञानी बद्ध हूँ, अथवा मैं मुक्त, ज्ञानरुप और सुखरुप हूँ - दोनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही प्रकार का एहसास असत्य है। ज्ञानेश्वर महाराज ने घट का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जब भूमि पर घट रखा गया तब इस प्रकार भाषा का प्रयोग किया जाने लगा इस प्रकार भाषा का प्रयोग किया जाने लगा कि घटके सहित भूमि है। घट उठा लेने पर यह कहा गया कि भूमि घटविरहित हो गई। परंतु भूमि की दृष्टि से विचार किया जाए, तो भूमि के लिए इन दोनों शब्दप्रयोगों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

कां भूमी कुंभ ठेविजे। तै सकुंभता अपैजे।
तो नेल्या म्हणिजे। तेणे वीण।।
परी है दोन्ही भाग। न सिवती भूमीचे अंग।
तेव्हेळी भूमि तैसे चांग। चोखेजे असे।। अमृ. ४-४२-४३.

इसी प्रकार आचार्य का कथन है - 'यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा स अणुमात्रेणामि न संबंध्यते।' - जिस अधिष्ठान पर जिस वस्तु का भ्रम होता है, उस वस्तुं के दोष अथवा गुण से उस अधिष्ठान का कोई संबंध नहीं होता। इसका कारण यह है कि अध्यस्त वस्तु केवल कल्पना मात्र होती है।

शांकर - दर्शन में भी 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान को सापेक्ष माना गया है, और उनकी मान्यता है कि इस वृत्ति के क्षीण हुए बिना परमानंदता को आत्मसात नहीं किया जा सकता। ज्ञान वृत्तिरुप है और वृत्ति का नष्ट होना आवश्यक है। इसीको उन्होंने 'अविद्यालेश' का नाम दिया है। अविद्यालेश के नष्ट हो जाने पर जो अवस्था शेष रहती है उसे सहजावस्था, निखिलज्ञानमात्र-दशा कहा जाता है। यही तीसरा एवं अंतिम चरण है जिसे अमृतानुभव कहते हैं।

ज्ञानी पुरुष की समाधि एवं व्यवहारदशा

जिसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उसकी दो दशाएँ होती हैं। एक- समाधि दशा तथा दूसरी - उसमें से बाहर आने के बाद होने वाली व्यवहारदशा। इसे व्युत्थान नाम दिया गया है। समाधि अवस्था में ज्ञानी पुरुष अधिष्ठान रुप चैतन्य के साथ एकरुप हो जाता है। इस अवस्था में वृत्ति का स्वतंत्र रुप से स्फुरण नहीं होता। फिर भी उस स्थान पर वृत्ति का पूर्ण रुप से अभाव नहीं होता। जिस प्रकार जल पर उठने वाली लहर जल पर उठने से पूर्व जल के साथ एकरुप होती है, पृथकत्व से स्फुरित नहीं होती, उसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार समाधी अवस्था में ज्ञानी की वृत्ति अधिष्ठानरुप चैतन्य के साथ एकरुप होती है। बीन के तारों को जोड कर उनसे स्वर निकलने के पूर्व जो स्वर की स्थिति होती है, वैसी ही यह स्थिति है। उस अवस्था को समझना ही तद्रूप को समझना है -

कां न सजविता वीणा। तों नादु जो आवोलणा।
तया तेणेंचि जाणा। हो आवो लागे। - अमृ ५ - ४.

अर्थात् वृत्ति के होते हुए भी उस वृत्ति का एहसास नहीं रहता। तव एकरस और एकरुप परमानंद की स्थिति रहती है। विद्यारण्यजी का कहना है कि समाधि में वृत्तियाँ अज्ञात होने पर भी आत्मगोचर होती हैं। (वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः) परमानंदता में वृत्तियों का एहसास नहीं चाहिए। व्यवहार में भी हम सब अनुभव कर चुके हैं कि जव हम अत्यंत प्रसन्न होते हैं, तो ज्ञान के अलावा हमें आनंद की कल्पना भी नहीं आ सकती। अतः एहसास कहा नहीं जा सकता। इसी अवस्था को निवृत्तिक अर्थात वृत्तिरहित स्थिति कहते हैं।

निवृत्तिक और सवृत्तिक शब्दों के अर्थ

शांकर वेदान्त में कहा गया है कि ज्ञान के अनंतर ज्ञानी पुरुप की स्थिति निवृत्तिक होती है। इसलिए कई वेदान्ती मानते हैं कि ज्ञानी के स्थान पर वृत्तियों का अभाव होता है। परंतु यह धारणा अनुचिंत है। जव ब्रह्म चैतन्य और आनंदरुप है, तो उसके स्थान पर चैतन्य और आनंद का स्फुरण होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाए कि स्फुरण ही नहीं होता, तो पत्थर में और परब्रह्म में अंतर ही क्या रहा? जड से हमारा अभिप्राय स्फुरणरहितता से है। हम सव के स्थान पर ज्ञान और आनंद का स्फुरण होता ही रहता है। परंतु वह स्फुरण जिस अधिष्ठान के साथ पर होता है, उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं रहता, अतः स्फुरण का विषय अधिष्ठान न रहते हुए हम उससे भिन्न वस्तु की कल्पना करते हैं। यही हमारा अज्ञान है। परिणामतः स्फुरण होते ही हमें प्रतीत होता है कि कुछ नूतन या नवीन घटित हुआ है अतः नामरुपों के कारण हम उन्हें भिन्न - भिन्न पदार्थ मानते हैं। और एकरस और एकरुप पदार्थ की कल्पना करते हैं। वस्तुतः द्रष्टा और ज्ञाता का जो स्वरुप है वही स्वरुप दृश्य अथवा ज्ञेय का होता है। अतः ज्ञेय का आडंबर चाहे जितना विशाल क्यों न दिखाई दे, ज्ञाता को उसके विषय में विलक्षणता प्रतीत नहीं होनी चाहिए। जल के स्थान पर भले ही हजारों लहरें उत्पन्न हो जाएँ, परंतु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जल को जल के सिवा अन्य कोई एहसास नहीं होता, इसलिए लहरों के अनेकत्व के कारण जल के स्थान पर किसी विशेष वात का निर्माण नहीं होता। श्रीज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं कि सुवर्ण तथा अलंकार में एकमात्र सुवर्ण ही स्फुरित होता है क्योंकि उसके स्थान पर उसके सिवा कोई अन्य वस्तु रहती ही नहीं है। जल और लहर में एकमात्र जल के अलावा कुछ भी नहीं रहता। गंगा चाहे समुद्र के रुप में हो अथवा गंगा नदी के रुप में प्रवाहित हो - जल की दृष्टि से तो दोनों ही समान हैं -

लेणे आणि भांगारे। भांगारचि एक स्फुरे।
कां जे येथ दुसरे नाहीं चि म्हणोनि।।
जळ तरंगी दोन्हीं। जळा वाचूनि नाहीं।
म्हणोन आन काहीं। नाहीं ना नोहे।।
आता दृष्टपणें दिसो। कीं द्रष्टा होऊनि असो।।
परी हां वाचूनि अती सो। नाहीं येथें।।
गंगा गंगापणे वाहो। कीं सिंधु होऊनि राहो।
परी पणीपणा नवलाहो। हे न देखो कीं।।
(अमृ. ७. २३६ - ३७ -, २४० - ४१)

निखिलज्ञानमात्रदशा अमृतानुभव की स्थिति है। आचार्य भी उसे ही ज्ञान की पराकाष्ठा मानते हैं। जो विद्वान अमृतानुभव में प्रस्तुत अज्ञान के खंडन को पढ़ कर यह प्रतिपादन करते हैं कि यह आचार्य के अज्ञांन का खंडन है, वे प्रथमतः इसका विचार करें कि क्या उनके स्थान पर ज्ञानदशा है? यदि है, तो कोई प्रश्न नहीं उठता - क्योंकि आचार्य का वेदान्त वैसी स्थिति भासितं न होने पर यह बताता है कि वह क्यों नहीं भासित होती? यदि वह भासित नहीं होती तो विद्वान यह सोच लें कि उनकी अपनी स्थिति क्या है? औरों के विषय में हम कह भी क्या सकते हैं? श्रीज्ञानेश्वरमहाराज ने जिस दशा का वर्णन किया हे, उसका अनुभव हम नहीं करते, अतः हमारे विषय में वात करनी हो, तो हमें यही कहना होगा कि हमारा दृष्टिकोन अयोग्य है अथवा हम अज्ञानी हैं।

अमृतानुभव की प्राप्ति के मार्ग की प्रमुख बाधा अहंकार है

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि समाधि अवस्था में परमानंदता होती है। यह तो निर्विवाद तथ्य है। भागवत मत के अनुयायी यह प्रश्न उपस्थित कर देते हैं कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाधि से जाग्रत हो जाने पर भी क्या वही अवस्था अखंडित रुप से कायम रह सकती है? यदि ब्रह्म अखंड परमानंदरुप है और ज्ञानी पुरुष अखंड परमानंदरुप परब्रह्म के साथ एकरुप होता है, तो उस परमानंदता को व्यवहार में भी कायम रहना चाहिए। समाधि के टूटते ही यदि उस स्थिती में अल्प मात्रा में भी न्यूनत्व रह जाता हो, तो उसकी समाधि अथवा ब्रह्मरुपता को एकदेशीय ही मानना पडेगा। वृत्ति के होते हुए भी उसका एहसास न होने की जो निवृत्तिक स्थिति समाधि में होती है, वैसी ही स्थिति व्यवहारकाल में भी होनी चाहिए। परंतु अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि व्यवहार काल में भी होनी चाहिए। परंतु अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि व्यवहार काल में निवृत्तिक स्थिति नहीं होती। व्यवहार करते समय ज्ञानी पुरुष के स्थान पर उसके प्रारब्ध के अनुसार भिन्न - भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। नामरुप से मर्यादित समस्त पदार्थ उसके सम्मुख होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व उनके स्थान पर दोष-दर्शन का अध्ययन करके ज्ञानी व्यक्ति इस बात का निश्चय कर लेता है कि वे मिथ्या हैं। व्यवहार में इन सबसे संबंधित होते ही ज्ञानी व्यक्ति अपने ज्ञान के आधार पर यह समझ लेता है कि 'मैं उनसे अलग हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' इसीको अद्वैत वेदान्ती 'साक्षिदशा' कहते हैं। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि ज्ञानी पुरुष भी इस तथ्य का अध्यन करके कि 'सर्वत्र ब्रह्म है' अखंड ब्रह्मरुपता को आत्मसात् कर सकते हैं। भागवतमतानुयायियों के अनुसार क्या यह वृत्तिरुप दशा ही नहीं है? चाहे 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हो, चाहे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का ज्ञान हो - दोनों ही प्रकार का ज्ञान वृत्तिरुप है। इस में ज्ञान की दृष्टि से भले ही कोई न्यूनत्व न हो, परंतु क्या यह ज्ञान भी सापेक्ष नहीं है? क्या इस वृत्ति से अब्रह्मप्रत्यय का स्मरण नहीं होता? इस वृत्ति को कैसे नष्ट किया जाए? जब तक यह वृत्ति है तब तक ज्ञानी-दशा समाधि के समान परमानंदरुप अवस्था नहीं हो सकती। यह भी ज्ञानाहंकार ही है। परमानंदता को आत्मसात् करने के लिए 'अज्ञाता अप्याप्तगोचर' वृत्ति को नष्ट कैसे किया जाए? अज्ञान की वृत्ति को ज्ञान वृत्ति से नष्ट हो सकी, परंतु यह तो ज्ञानवृत्ति है। उसका नाश कैसे हो सकेगा? अद्वैत-वेदान्तियों ने इसका उपाय यह बताया है कि ज्ञानी पुरुष को बार-बार समाधि का आश्रय लेना चाहिए। देहपात अनंतर उपाधि नष्ट हो जाती है अतः तब यह वृत्ति भी नष्ट हो जाएगी ऐसा उनका कहना है। उनके मतानुसार देहपात होने से पूर्व ज्ञानी की उपाधि नष्ट नहीं होती (यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात्।) इस समग्र विवेचन के उपरान्त स्पष्ट हो जाता है कि अखंडित समाधि-अवस्था को कायम रखके विदेहमु... ... एकरुप ब्रह्म के अखंड प्रत्यय को जीवन्मुक्ति में लाने की सामर्थ्य केवल ब्रह्मज्ञान में नहीं होती। यह ज्ञानाहंता अखंड ब्रह्मरुप में बाधा पैदा करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अखंड ब्रह्मरुपता के लिए प्रीति-वृत्ति की आवश्यकता है

चाहे 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान हो, अथवा 'सर्वं खल्विदं' ब्रह्म का ज्ञान हो - दोनों ही वृत्तिरुप ज्ञान हैं इसलिए उस अवस्था को ब्रह्मरुप नहीं कहा जा सकता। यह एहसास आपेक्षिक होता है और उसे नष्ट हो जाना चाहिए। यह ज्ञानवृत्ति होने के कारण उसे नष्ट करने के लिए दूसरी वृत्ति का उपयोग करना होगा। ब्रह्म जिस प्रकार ज्ञानरुप है, उसी प्रकार वह आनंदरुप भी है। यह आनंद की अर्थात् प्रेम की वृत्ति ही इस ज्ञानवृत्ति का अभिभव करने में समर्थ होती है। ज्ञान के अनंतर इस प्रेमवृत्ति को प्रमुखता दी जाती है और जिस समय हमारी प्रीतिवृत्ति का आलंवन परब्रह्म हो जाता है, उसी समय भक्ति का प्रारंभ होता है। भक्ति का अर्थ है परमप्रेम। हमें अपने आप के प्रति तो परमप्रेम होता ही है। अंतर केवल इतना ही है कि आज भिन्न-भिन्न वाह्य पदार्थ इस प्रेम का आलंबन वन गए हैं। उस प्रेम का आलंबन जव परब्रह्म होता है तव उसे 'भक्ति' नाम प्राप्त होता है (सा त्वस्मिन्परमप्रेमरुपा)

चिदंश और आनंदांश

एस स्थान पर एक प्रश्न के उपस्थित होने की संभावना है - एकरुप ओर एकरस परब्रह्म के स्थान पर ज्ञानवृत्ति और प्रेमवृत्ति का भेद कैसे किया जाए तो क्या वह ब्रह्म के अंश करने के समान नहीं होगा? इसके विषय में हम पहले भी कुछ विवेचन कर चुके हैं, परंतु इसका संपूर्ण विवेचन इस स्थान पर आवश्यक है।

परब्रह्म के सच्चिदानंदरुप होने के अर्थ हैं कि सत्, चित् और आनंद - ये तीनों अंश एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं और वृत्तिस्फुरण के समय वे पूर्णतः स्वतंत्र रुप से स्फुरित भी नहीं होते। परंतु फिर भी उनमें गौण अथवा प्रधान भाग तो रहता ही है। व्यवहार में भी जब हमें ज्ञान होता है तब उस समय ज्ञान में आनंद की भावना भी होती है। परंतु वह गौण भावना होती है। उसमें ज्ञान की प्रमुखता रहती है और इसलिए ज्ञान के साथ-साथ ज्ञातृत्व उत्पन्न हो जाता है। सुख के अथवा आनंद के समय ज्ञान रहता है, परंतु गौण रुप में। आनंद ही प्रधान होता है। जिस समय एहसास उत्पन्न होता है उस समय वह सुख का ज्ञाता होता है। उसे सुख ज्ञेय होता है। इसीको हम भोक्तृत्व कहते हैं। ज्ञानवृत्ति एहसास-स्वरुप ही होती है, अतः वह अपने एहसास को विस्मृत करके ज्ञान नहीं कराती। इसके विपरीत प्रेमवृत्ति में ज्ञान होने पर भी प्रेम स्वाभाविक रुप से एहसास को विस्मृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर देता है अतः एहसासरहित हो जाने के सिवा आनंद की प्राप्ति नहीं होती। इसी सुख में जब आनंदांश अप्रबल वन कर ज्ञानांश प्रबल वनता है, तव सहसा सुख का एहसास उत्पन्न होने लगता है और व्यक्ति सुखरुपता से बाहर आ कर सुख का ज्ञाता बन जाता है। इसीको हम भोक्तृत्व कहते हैं। किसी भी प्रकार का एहसास उत्पन्न हुए बिना एकरुपता को आत्मसात करने की सामर्थ्य केवल एक प्रेमवृत्ति में ही होती है। हम सव इस बात को अनुभूत कर चुके हैं। विचार के द्वारा हम कल्पना कर सकते हैं कि हम देहरुप न हो कर देह से भिन्न हैं। परंतु विचार से स्थिर बने इस निश्चय पर क्षणकाल के लिए भी टिक नहीं सकते और 'मैं' के उच्चारण के साथ ही हमारे स्थान पर देहसहित एहसास उत्पन हो जाता है। क्योंकि हमारी देह से प्रेम के कारण हमारा तादात्म्य प्रस्थापित हुआ है। चाहे कितनी ही वार सोच-विचार करने पर भी हम बार-बार देह के साथ एकरुप हो जाते हैं और इस ऐक्य का एहसास भी हमें नहीं होता। ज्ञान से वस्तु के स्वरुप क ज्ञान हो सकता है, परंतु उस स्वरुप को बाँधे रखने का कार्य तो प्रेमवृत्ति का ही होता है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्म को प्रेम से आवद्ध रखना ही भक्ति है। ज्ञान-प्रेमवृत्तियों का यह द्वैत ज्ञानी के व्यवहारकाल में भी कायम रहता है। क्योंकि उस समय उसके स्थान पर समस्त वृत्तियाँ प्रारव्ध के कारण ही उत्पन्न होती हैं। अर्थात् उन वृत्तियों का एहसास होता है। समाधि के समान वे वृत्तियाँ अज्ञात नहीं रह सकतीं। उनका भिन्नत्व ज्ञानी को भासित होता रहता है, अतः उसे सदैव इस वात का ज्ञान यथावत् रखना पडता है कि मैं उनका साक्षी हुँ। श्रीज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं कि वृत्ति की यह विविधता केवल आनंदांश के स्थान पर ही नष्ट हो सकती है -

एरव्ही सच्चिदानंद भेदें। चालली तिन्ही पदे।
परी तिन्ही उणे आनंदे। केली एके।

आनंदांश के प्रधान हुए विना एकरुपता का प्रत्यय नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रीतिवृत्ति निवृत्तिक है

प्रीतिवृत्ति भी वृत्ति ही होती है, अतः कुछ लोग पुछ सकते हैं कि प्रीतिवृत्ति प्रधान होने के पश्चात् क्या वृत्तिरुपता नहीं रहेगी? इसका उत्तर यह है, कि प्रीति- वृत्ति होने पर भी एहसास को विस्मृत कराने वाली होने के कारण निवृत्तिकता की श्रेणि की ही होती है। एहसास की अनुपस्थिति में सापेक्ष अथवा निरपेक्ष-दोनों को भी निर्धारित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं किया जा सकता। जिस प्रीतिवृत्ति में कोई भी एहसास नहीं रह पाता, वह प्रीतिवृत्ति सहजावस्था नहीं तो क्या है? प्रीतिवृत्ति में किसी भी प्रकार का एहसास स्फुरित होते ही वह अपने आप नष्ट हो जाता है। हमारा व्यावहारिक अनुभव भी इसी प्रकार का होता है। अत्यंत हर्ष की अवस्था में किसी भी एहसास का स्फुरण होने पर हम उस अवस्था से तत्काल वाहर आ जाते हैं और उग्र आनंद के भोक्ता वनते हैं। संक्षेप में, 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति को प्रेम के द्वारा नष्ट करना होगा। अन्य किसी भी वात से वह नष्ट नहीं हो सकती।

'मैं' और 'मेरा'

हमारे स्थान पर जो भी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सामान्य रुप से दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है - 'मैं' और 'मेरा'। हमारा वार्तालाप बहुत अधिक मात्रा में इन्हीं दो शब्दों पर आधारित होता है। तत्वतः विचार किया जाए, तो एक ब्रह्म का चिदंश है, तो दुसरा आनंदांश अथवा प्रेमांश है। 'मैं' ज्ञानवृत्ति है, तो 'मेरा' प्रेमवृत्ति है। वेदान्त में इसी अर्थ में 'अहंता' और 'ममता' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों ही अंश वस्तुतः एक ही वस्तु के दो अंग हैं उनकी एकरुपता का प्रत्यय हमें केवल अपने आप के स्थान पर हमारा जितना परम प्रेम रहता है, उतना हमसे भिन्न पदार्थों के स्थान पर नहीं रहता। जिस स्थान पर हमारा परमप्रेम रहेगा, उस स्थान पर इन दोनों अशों का एकत्रित स्वरुप दिखाई देता है। हमारा परमप्रेम उस स्थान पर होता है, अतः 'मैं' और 'मेरा' शब्द का प्रयोग करके हम दिखाते हैं कि हमारा परमप्रेम उस स्थान पर है। परंतु हमारी प्रिय पत्नी हो अथवा वच्चा हो, उन सभी स्थानों पर यद्यापि हम 'मेरा' शब्द का प्रयोग करते हैं तथापि 'मैं' का प्रयोग नहीं करते। इसलिए भले ही हम वताते हैं कि हम उनसे परमप्रेम करते हैं, तथापि वस्तुतः उनके स्थान पर हमारा प्रेम आपेक्षिक दृष्टि से गौण ही होता है। जो द्वैतवादी भागवत मत के अनुयायी हैं, उनके मत में परमप्रेम की दृष्टि से विचार करने पर उनके अपने स्थान पर उनकी अहंता शेष रहती है, इसलिए चाहने पर भी वे भगवान से परमप्रेम नहीं कर सकते। 'मैं' और 'मेरा' दोनों का विषय जव एक होगा, तभी परमप्रेम हो सकता है। देह का अवयव टूटते ही ऐसा प्रतीत होता है कि 'मैं टूट गया'। इसमें अज्ञान भी हो सकता है, परंतु प्रेम की दृष्टि से देखा जाए तो वह परमप्रेम है। तुकाराम महाराज कहते हैं कि जिनका सारा प्रेम भगवान से है, उन्हें हम संत कहते हैं -

आम्ही संत म्हणू तया। अवघी देवावरी माया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें 'अवघी' (संपूर्ण) शब्द बहुत महत्व रखता है। अपने स्थान पर लेशमात्र भी अहंता शेष नहीं रहनी चाहिए, उस अहंता का विषय भी भगवान को ही होना चाहिए। यह स्थिति द्वैतमतवादी भागवतमतानुयायियों के मत में नहीं रह सकती। क्योंकि उनके मत में द्वैत का स्वीकार किया गया है, अतः अहंता का विषय भगवान नहीं, बल्कि वे स्वयं होते हैं। इसी दृष्टि से अद्वैतमतानुयायी श्रीज्ञानेश्वरमहाराजादि भागवतमतानुयायी कहते हैं कि अद्वैत के विना वास्तविक भक्ति संभव नहीं है।

प्रेम के दो प्रकार - व्यक्त और अव्यक्त

व्यावहारिक प्रेम दो प्रकार का होता है। हम जिससे प्रेम करते हैं उसके विषय में हमारे अंतःकरण में होने वाला प्रेम तथा उसके साथ व्यवहार करते समय प्रकट होने वाला प्रेम। माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जो प्रेम होता है, वह अव्यक्त प्रेम है और बच्चा पास आने पर माता चुंवन लेकर जिस प्रेम को प्रकट करती है, वह व्यक्त प्रेम होता है। प्रस्तुत उदाहरण में पहला प्रेम निर्गुण है और दूसरा सगुण। जिस समय ज्ञानी पुरुष को व्यतिरेक ज्ञान से परव्रह्म का प्रत्यय प्राप्त होता है, तब वह वाह्य विषयों के प्रति अपने संपूर्ण प्रेम को परव्रह्म के स्थान पर केंद्रित कर देता है। यह प्रेम अव्यक्त एवं निर्गुण है। उसमें व्यक्ति की अहंता तथा ममता दोनों का ही होता है। परंतु जिस प्रकार हृदय में परव्रह्म है, उसी प्रकार अखिल व्रह्माण्ड में भी परव्रह्म के सिवा अन्य कोई वस्तु ही नहीं है, तो परव्रह्म के सिवा वाहर भी क्या हो सकता है? जो नाम, रुप, आकार आदि ज्ञान के पूर्व परव्रह्म से विलक्षण अव्रह्म का प्रत्यय दिलाने वाले, अतः मिथ्या के वाचक सिध्द होते हैं। अर्थात् व्रह्म जितना प्रिय होता है उतना ही नामरुप, आकारादि से भासमान होने वाला व्रह्म प्रिय होना चाहिए। इस अवस्था में जो कुछ भी विशेष था, वह सव निर्विशेष हो गया। लहर के नामरुप, आकारादि से जव पानी उमड़ा नहीं था तव जल था और यह बात नहीं है कि लहर के रुप में उमडते ही उसका जलत्व नष्ट हो गया। दोनोंजल की ही अवस्थाएँ हैं। केवल यही नहीं, तो आनंद की दृष्टि से यह अवस्था अधिक अच्छी है। इसमें ऐक्य की मूल राशि यथावत् रहते हुए ही आनंद का लाभ होता है। श्रीज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं की मूल राशि में कोई कभी न आते हुए ही आनंद का लाभ होता है, तो जल के लहर-रुप धारण करने में हर्ज ही क्या है?

अहो ऐक्याचे मुद्दल न ढळे।
आणि सांजिरेपणाचा लाभु मिळे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तरी स्वतरंगाची मुकुळे।
तुरंबू का पाणी।। (अमृ.)

नामरुपों से भासित होने वाला परब्रह्म भी ज्ञानी को उतना ही प्रिय लगना चाहिए। नामरुप के विषय में कोई भी विरोधी वृत्ति उसके स्थान पर नहीं उठनी चाहिए।

(क्रमशः)

बी ५/८, सुमन नगर
ट्रॉम्बे रोड, चेम्बूर
मुम्बई - ७१.

डॉ. वा. ना. पण्डित
अनु. डॉ. विद्या सहस्त्रबुद्धे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाकवि भवभूति एवं याथार्थ्य

(१) याथार्थ्य के द्विविध वर्ग

भारतीय चिन्तन में याथार्थ्य के सम्बन्ध में दो मत अभिव्यक्त हुए हैं। अवधारणा का प्रथम पक्ष वस्तुवादी है तथा दूसरा पक्ष अनुभूतिवाद का है। आस्तिक तथा नास्तिक इन दो वर्गों में विभाजित दर्शनों में नास्तिक दर्शनों में चार्वाक तथा आस्तिक दर्शनों में 'बिना विषय के कोई भी ज्ञान नहीं होता'[1] इस परिभाषा के आधार पर नैयायिक, वैशेषिक तथा पूर्णतः वस्तुवादी यथार्थवाद की स्थापना करते हैं। इनके विपरीत आस्तिक चिन्तनधारा में जहाँ एकमात्र 'विज्ञान आनन्द को ब्रह्म[2]' मानते हुए अद्वैत वेदान्त में अनुभूतिमात्र के याथांर्थ्य की स्थापना की गई है, वही सांख्य तथा योगदर्शन अनुभूति पक्ष के याथार्थ्य के साथ वाह्य पदार्थों के याथार्थ्य के भी परिपोषक होने से एक समन्यवादी दृष्टिकोन प्रस्तुत करते हैं।

२) याथार्थ्य के स्वतस्त्व तथा परतस्त्व पक्ष

भारतीय दर्शन में यथार्थवाद का पक्ष स्वतस्त्व तथा परतस्त्व के भेद से दो वर्गों में विभाजित है। प्रथम पक्ष में अनुभूति की तथा ज्ञप्ति में दोनों स्तरों पर उसका याथार्थ्य या प्रामाण्य स्वतः माना गया है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अनुभूति, जब तक प्रबल प्रमाणों से उसका अयायार्थ्य प्रमाणित न हो तब तक याथार्थ्य या प्रामाण्य के रुप में उसकी स्थिति अक्षुण्ण रहती है। यह पक्ष स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांस के द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

अनुभूति के याथार्थ्य का परस्त्ववादी दृष्टिकोन तर्किकों का है। इनके मत में अनुभूति अपने आप में याथार्थ्य तथा अयाथार्थ्य दोनों कोटियों से रहित होती है। संशय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की स्थिति में सामग्री याथार्थ्य साधिका होने पर अनुभूति का याथार्थ्य निष्पन्न होती है। इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष में ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होने से इस पक्ष को स्वतः प्रामाण्य की संज्ञा प्राप्त हुई है। द्वितीय मत में अनुभूति की सामग्री तथा उसके याथार्थ्य की ग्राहिका सामग्री भिन्न होने से तार्किकों का यह सामर्थ्यविपयक मत परतः प्रामाण्य की संज्ञा से विभूपित है।

करुणरसप्रकर्षप्रकाशन कविकुल भूषण महाकवि भवभूति जिस प्रकार साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान रत्न हैं, उसी प्रकार अनेक विद्वानों की मान्यतानुसार भाट्टमतावलम्बी उम्बेकाचार्य के रुप में एक श्रेष्ठ दार्शनिक के रुप में भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं, यद्यपि यह विषय अभी तक विवादग्रस्त है।

महाकवि का दार्शनिक उम्वेक के रुप में अवलोकन करने पर उक्त दोनों मतों में वे प्रथम मत के परिपोपक प्रतीत होते हैं। उनकी तीनों रचनाओं में अनेक स्थलों पर याथार्थ्य या प्रामाण्य की प्राप्ति में संशयरहित स्वतः प्रामाण्य का उनका मीमांसाभिमत दृष्टिकोन अभिव्यक्त होता है।

'मालतीमाधवम्' नाटक के प्रथम अंक प्रारम्भ में परिव्राजिका कामन्दकी प्रश्न करती है - "अपि नाम तयो - कल्याणिनोर्भूरिवसुदेवरातापत्ययोर्मालतीमाधवयोरभिमतः पाणिग्रहः स्यात्।"[3] यहाँ पर भूरिवसु तथा देवरात के विशेषण में 'कल्याणिनोः' इस विशेपणांश द्वारा महाकवि को अभिमत संशयरहित कुशलताज्ञान का याथार्थ्य ध्वनित होता है। टीकाकार श्री जगध्दर "कल्याणिनोरित्यनेनाशंसनीयकुशलतयानुग्राह्यत्वमुक्तम्।[4] इस पंक्ति द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार प्रथमांक में माधव का मित्र मकरंन्द माधव को इस प्रकार आश्वस्त करता है कि - 'तुम्हारे नेत्रों की जो कौमुदी है, ज्योत्सना है, उसके मनोरथ के बन्ध के बन्धु अर्थात् उसकी प्राप्ति के विपय में अभिलाषी तुम भी हो। इसलिए जिसमे परस्पर अनुराग उत्पन्न कराने में काम तथा एक देश में उपस्थिति कराते हुए भाग्य, दोनों का प्रयत्न है, उस संगम के विषय में संशय का स्थान ही नहीं है।'[5]

यह पद्म भी अपने काव्यगत सौष्ठव सहित महाकवि की संशयरहित अवधारणा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के याथार्थ्य को प्रकाशित करता है।

'महावीर चरितम्' के प्रथम अंक में "समस्त दोषों के असम्पर्क के कारण वेद के समान आप दोनों के वचन ही पुण्य तथा पाप के निर्धारण में प्रमाण हैं।" [6] यहाँ पर राम विश्वामित्र के आदेश को वेद के समान प्रतिपादित कर उसके सर्वथा संशय-रहित प्रामाण्य को स्थापित करते हैं।

एवमेव चतुर्थ अंक में परशुराम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है "निसर्गतः (स्वाभाविक रुप से) पवित्र आप का पावित्र्य अन्य किस (प्रायश्चितादि) से हो सकता है? तीर्थोदक तथा अग्नि को अन्य उपायों से शुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती।" [7]

इस पद्य में परशुराम के पावित्र्यरुपी तथ्य की प्रस्तावना में अग्नि तथा तीर्थजल की स्वतः प्रामाणिकता का उल्लेख करते हुए महाकवि ने दशरथनिष्ठ परशुराम के पावित्र्यविषयक याथार्थ्य के स्वतः प्रामाण्य को अभिव्यक्त किया है।

उत्तररामचरितम् के प्रथम अंक में मुनि अष्टावक्र के माध्यम से वसिष्ठ का सन्देश सुनकर राम की यह उक्ति है - "सांसारिक सज्जनों की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, परन्तु आदिकालीन (अत्यन्त श्रेष्ठ) ऋषियों की वाणी का अर्थ को ही अनुसरण करना पड़ता है।" [8]

इस पद्य में आप्तवाक्यजन्य अर्थ के याथार्थ्य के स्वतः प्रामाण्य का महाकवि का अभिमत पक्ष उद्घाटित हो जाता है।

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में अरुन्धती का यह कथन है - "ब्रह्म तेज का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मणों के जो कथन हैं, उनके वारे में सन्देह नहीं होना चाहिए। उनकी वाणी में मंगलमयी समृद्धि स्थित रहती है। [9]इस अरुन्धती की उक्ति में भी ज्ञान के याथार्थ्य को संशयविरहित स्वतः प्रामाण्य से विभूषित रुप में महाकवि ने प्रतिपादित किया है।

इन उदाहरणों के पर्यालोचन से दर्शन के क्षेत्र में महाकवि को अनुभूतिकाल में संशयरहित याथार्थ्य का मीमांसाकाभिमत पक्ष ही अभिमत प्रतीत होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३) साहित्य में रसमात्र का याथार्थ्य

दर्शन के परिसर में विद्यमान याथार्थ्य की यह अवधारणा काव्य के विलक्षण संसार में जहाँ का प्रजापति कवि समस्त दार्शनिक नियमों से स्वतन्त्र है।[10] वहाँ परस्पर भिन्न मतमन्तान्तरों में से किसी दर्शन विशेष की अवधारणा को काव्य जगत् में आरोपित कर पाना केवल कठिन ही नहीं अपितु अनुचित भी है, तथापि कवि के बुद्धिस्थित याथार्थ्य तथा वस्तुगत याथार्थ्य में वैलक्षण्य होने पर भी रसाभिव्यक्ति को काव्यजगत् के सार्वभौम याथार्थ्य के रुप में अवश्य स्थिपित किया जा सकता है। आचार्य मम्मट ने अभिनव गुप्तपाद का यह मत उद्धृत किया है कि 'अन्य सव को तिरोभूत करता हुआ सा, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव करता हुआ सा अलौकिक आनन्द को देने वाला (चमत्कारकारी) आदि 'रस' कहलाता है।' आदि 'रस' कहलाता है।[11] आचार्य विश्वनाथ भी रस को ही काव्य की आत्मा स्विकार करते हैं।[12] इस प्रकार अनेक आचार्यो द्वारा सम्मत 'रसतत्त्व' विभिन्न तत्वों तथा परिवर्तनों के मध्य में भी सर्वत्र व्यापक एक 'यथार्थ' तत्त्व के रुप में साहित्यिक दृष्टि से संस्थापित है।

भवभूति की दृष्टि में 'उत्तररामचरितम्' मे करुणपसमात्र का याथार्थ्य

सहृदय हृदयावर्जक कविकुलचूड़ामणि महाकवि भवभूति ने अपनी सर्वोत्तम कृति 'उत्तररामचरितम्' में न केवल एक अंगी रस के रुप में करुण रस की स्थापना की है, अपितु इस करुण रस को ही इस नाटक के सन्दर्भ में एक सर्वव्यापक यथार्थ तत्त्व के रुप में प्रतिष्ठित किया है। इनकी मान्यता है कि -

"प्रतिपादक हेतुओं के भेद के कारण विलक्षण होनेवाले मिथ्या प्रतिभासों का आश्रय बननेवाला एक मात्र करुण ही वास्तविक (यथार्थ) है। जैसे एक जल (उपाधियों के कारण, भँवर, बुलबुले और लहरों के रूपवाले परिणामों का अधिष्ठान वनता है, परन्तु सर्वत्र वास्तविकता जल की ही रहती है।"[13]

महाकवि द्वारा विरचित यह श्लोक परस्पर भिन्न अनेक तत्वों में तादात्म्य से विद्यमान एक 'रसतत्त्व' की चरम यथार्थ के रुप में उनकी मान्यता को प्रकाशित करने में पूर्ण रुप से समर्थ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महाकवि भवभूति ने सीता परित्याग के पूर्व सीताहरणजन्य वियोग को विप्रलम्भ तथा सीता परित्याग के पश्चात् समुत्पन्न वियोग को 'करुण रस' के रुप में प्रतिष्ठित किया है। नाटक के नायक श्री रामचन्द्र के मुखारविन्द से दोनों के अन्तर को महाकवि ने स्वयं अभिव्यक्ति प्रदान की है -

"प्रथम वियोग शत्रुविनाश तक ही था, (इस कारण किसी तरह सह्य था) परन्तु यह दूसरी बार का वियोग तो अवधिरहित, अत्यन्त कटु तथा चुपचाप जिसे सहना है, ऐसा कभी समाप्त न होने वाला है।" [14]

यद्यपि 'उत्तररामचरितम्' में सीता की वास्तविक रुप से मृत्यु नहीं हुई, तथापि लक्ष्मण के माध्यम से वन में परित्यक्ता सीता की वन्य पशुओं द्वारा मृत्यु की कल्पना के आधार पर रामचन्द्र के विलाप के माध्यम से सर्वत्र 'पत्थरों को रुलाने वाला तथा वज्र के हृदय को भी विदीर्ण करने वाला'[15] 'करुण रस' ही सम्पूर्ण नाटक में महाकवि के अभिमत 'यथार्थ तत्त्व' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

इस प्रकार एक दार्शनिक के रूप में भवभूति प्रवल प्रमाणों द्वारा दोपज्ञान उत्पन्न होने तक समस्त ज्ञानों के स्वतः प्रामाण्ययुक्त भाट्टाभिमत याथार्थ्य को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, तो साहित्यिक की भूमिका में सर्वत्र एक व्यापक तत्त्व के रुप में 'रस' का अस्तित्वात्मक याथार्थ्य उन्हें अभिमत प्रतीत होता है।

डॉ. सोमनाथ नेने
उपाचार्य,
संस्कृत अध्ययनशाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, म. प्र.

पाद टिप्पणी

१) 'न चाविषया काचिदुपलब्धि.'

२) 'विज्ञानमानन्यं ब्रह्म' वृह. आ. उप. 3/9/28

३) Malatimadhava p. 13, Line 01 Motital Banarasidas Varanasi - 1983

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४) Same P.13 Line 14,

५) "या कौमुदी नयनयोर्भवतः सुजन्मा तस्या भवनपि मनोरथवन्धबन्धुः तत्संगमं प्रति सखे न हि संशयो स्ति यस्मिन्विधिश्च मदनश्च कृताभियोगः" Malati madhava p.38.

६) "सर्वदोषानभिष्वङ्गदाम्नायसमतां गताः।
युष्माकमभ्युपगमाः प्रमाणं पुण्यपापयोः।।" 1/38
Mahaviracharita, p.19, Pulication Board, Assam.
Gauhati - 3, 1969.

७) "निसर्गतः पवित्रस्य किमन्यत् पावनं तव।
तीर्थोदकस्य बहिश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।।" 4/27
Same p.86.

८) लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽधावति।। (अनुवर्तते)
उत्तररामाचरितम्, अंक ०१, श्लो. सं.

९) आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारस्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विलुताार्थांवदन्ति।।
उत्तर रामचरितम् अंक ४, श्लो. सं. १८

१०) अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथेस्मैरोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

११) "...अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद ब्रह्मास्वादमिवानुभवयन्
अलौकिकचमत्कारकारी श्रृङ्गारादि को रसः।"
काव्य प्रकाश, पृष्ठ 114, कृष्णदास अकादमी
वाराणसी, 1986

१२) "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, साहित्यदर्पणः, प्रथम परिच्छेदः पृष्ठ २३, डॉ. सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी । 1963.

१३) "एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।" 3/47

१४) "उपायानां भावादविरतविनोदव्यतिकरैः
विमदैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भूतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभू-
त्कटु स्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः।।
उत्तरराम चरितम् 3/47. 206, श्री शारदापुस्तक भवन, इलाहाबाद," 1965

१५) अभेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षलितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै -
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।।
उत्तररामचरितम् 1/28 पृष्ठ ५१, वही।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980) , Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad , Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रसेल एवं फ्रेगे के गणितीय चिन्तन में "संख्या" की अवधारणा

रसेल अंकगणित को तर्कशास्त्र के अंग के रुप में स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि अंकगणित का विकास तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा किया जा सकता है। रसेल ने अपने लेख "इन्ट्रोडेक्शन टू मैथेमेटिकल फिलॉलाफि" में यह स्वीकार किया है कि गणित का विकास हो रहा है -[1]

१) गणित का विकास संरचनात्मक तरीके से* तथा

२) जो कि अपेक्षाकृत अपरिचित है और अधिकाधिक अमूर्तकरण व तार्किक सरलतारुपी विश्लेषण द्वारा अग्रसर होती है।**

रसेल के अनुसार दो संघातो के वीच सामान्य धर्म तथा अनुगत धर्म होता है। जैसे - यह लाल, यह पेड़ इत्यादि पदार्थ आसानी से देखे जा सकते है परन्तु किसी अमूर्त संख्या के वारे में यह वात सामान्य नहीं है अर्थात जिस प्रकार हम पदार्थों को आसानी से देख सकते हैं परन्तु अमूर्त संख्या को हम नहीं देख सकते।

रसेल का मत है कि हम संख्या का निर्माण एक अनुक्रम में कर सकते हैं यदि कोई भी एक संख्या हमारे पास हो तो, जैसे - शून्य संख्या में एक जोडकर अन्य संख्या प्राप्त कर सकते हैं, इस प्रकार हम अपरिमित संख्याओं का निर्माण कर सकते हैं। उनका मानना है कि यदि कुछ तथ्यों को मूल तथ्य मान लिया जायें तो उनके आधार से अपर

* The more familiar direction is constructive, towards gradually increasing complexity: From integers to fractions, real number, complex numbers from addition and multiplication to differentiation and intergration and on to higher mathematics.

** Which is less familar, proceeds by analysing to greater and greater abstractness and logical simiplicity.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथ्यों की सिद्धि की जा सकती है। रसेल का मत है कि प्राकृत संख्याओं के आधार (योग, गुणा, अन्य संक्रियाओं) पर प्रतिपादन (Interpretation) को परिभाषित किया जा सकता है। पूर्ण संख्याओं के तंत्र से शुरु करके अनुपातिक संख्या तक उनकी परिभाषा, धर्म, सम्वन्धत्तथा परिमेय (Rational) संख्याओं को परिभाषित कर सकते हैं।[2] पियानों ने प्राकृत संख्याओं के सिद्धान्त तो तीन पूर्वग प्रत्यय (Primitive Ideas) और पाँच पूर्वग प्रतिज्ञाप्तियों को तर्कशास्त्र में जोड़कर परिभाषित किया हैं।[3] पियानो के तीन पूर्वग प्रत्यय निम्न हैं। १) शून्य २) संख्या ३) परवर्ती।

यहाँ पर परवर्ती का प्राकृत क्रम में अर्थ है कि एक के वाद तुरन्त दूसरा होना, जैसे - शून्य का परवर्ती एक (1 is a sussessor of o) है, और १ का परवर्ती २ है। संख्या काअर्थ है कि प्राकृत संख्या के समूह में सम्वन्ध होना चाहिए।

पाँच पूर्वग प्रतिज्ञप्तियाँ निम्न हैं -

१) शून्य एक संख्या है।
२) किसी भी संख्या का परवर्ती भी एक संख्या है।
३) दो संख्या का परवर्ती भी एक संख्या है।
४) शून्य किसी का परवर्ती नहीं है।
५) कोई भी धर्म जो शून्य से संवंधित है और उस धर्म वाली प्रत्येक संख्या की परवर्ती संख्या से भी संवंधित है वह सभी संख्याओं से संवंधित है।

रसेल एवं फ्रेगे का मत है कि गणित तर्कशास्त्र का अंग है परन्तु दोनों का दृष्टिकोन अलग-अलग है। रसेल गणित में संख्या को नामवादी के रुप में स्वीकार करते हैं तथा संज्ञा व परिभाषा को हम परिभाषित करते हैं उसे ज्यादा से ज्यादा समझना चाहिये, शास्त्र के आकार में कोई वृद्धि नहीं करती है तथा नये पदार्थों की सृष्टि नहीं करती है। संप्रत्यय धर्म में रहता है या नहीं। जैसे - 1) $x + 2$ 2) $x \leq 2$ दोनोंही फलन है परन्तु दूसरे फलन की विशेषता है कि x को मूल्य देने पर वह सत्य या असत्य हो जाता है ऐसे फलन को संप्रत्यय कहते हैं।

फ्रेगे ने अपने "संख्या का संप्रत्यय" सम्वन्धी लेख में संख्या को समझाया है तथा संख्या की परिभाषा दी है। फ्रेगे का मत है कि तर्कशास्त्र की सीमा के अन्दर तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तर्कशास्त्र के नियमों द्वारा संख्या को परिभाषित किया जा सकता है।[4] उनके मत में प्रत्येक विशिष्ठ संख्या एक विषय-वस्तु से स्वतन्त्र है। लाइवनित्ज ने विशिष्ठ संख्या की परिभाषा इस प्रकार की है कि वह शून्य और एक के बीच है। शून्य संख्या संप्रत्यय को "ॲप्लाइ" करती है यदि जिसके अन्दर कोई भी विषय-वस्तु (Object) नहीं है। अर्थात संख्या "१" संप्रत्यय f को "ॲप्लाइ" करती है यदि a पदार्थ नहीं है तथा a, f के अन्दर नहीं है और a, f के अन्दर है और b भी f के अन्दर है तो a और b एकही (same) है। इसी प्रकार फ्रेगे ने बताया कि एक संख्या (n+1) संप्रत्यय f को "ॲप्लाइ" करती है तथा a वस्तु f के अन्दर है और n भी संप्रत्यय f के अन्दर है परन्तु वह a नहीं है अर्थात a के समान नहीं है। उनके अनुसार संप्रत्यय एक विशेष का फलन है जिसकी विषय-वस्तु बुद्धि ग्राह्य तथा इन्द्रिय ग्राह्य होती है। फ्रेगे का मानना है कि हम विषय-वस्तु को जान सकते हैं यदि फलन विषय वस्तु को "ॲप्लाइ" करता है तो वह सत्य या असत्य होगी। उनका संप्रत्यय सिद्धान्त विषय-वस्तु पर आश्रित है तथा संप्रत्य हमेशा विषय-वस्तु को "ॲप्लाइ" करता है।[5] संप्रत्यय और विषय-वस्तु के उदाहरण इस प्रकार है -

संप्रत्यय	विषय-वस्तु
१) घोड़े का संप्रत्यय	१) अमूर्त
२) प्रधान संख्या का संप्रत्यय	२) प्राकृतिक

फ्रेगे संप्रत्यय को संख्या के धर्म रुप में देखता है तथा तर्कशास्त्र के सिद्धांतो की सीमा में ही संख्या को परिभाषित करने का प्रयास करता है। फ्रेगे अंकगणित में संख्या को एक पदार्थ के रुप में देखते तथा संख्या को अंकगणित में निर्दिष्ट पदार्थ के रुप में अपनाते हैं। संख्या पदार्थ से अलग कोई वस्तु नहीं है, पदार्थ के द्वारा ही संख्या को हम जान सकते हैं। संख्या को वाह्य पदार्थ के धर्म के रुप में ग्रहण नहीं करते हैं तथा संख्या स्वतंत्र रुप में विचार को रुप-विधान (Form) नहीं कर सकती है। उदाहरण स्वरुप हम शून्य की कल्पना नहीं कर सकते हैं। आकाश वादलों से घिरा हुआ है तथा हमें एक भी तारा नजर नहीं आ रहा है तो हम तव यह नहीं कह सकते कि वहाँ पर शून्य है या कोई तारा नहीं है। जिस प्रकार हम वस्तुओं को देखते हैं क्या उसी प्रकार संख्या को देखते हैं? इसका मतलव यह नहीं है कि हम संख्या को स्वतन्त्र रुप में नहीं देख सकते। फ्रेगे के अनुसार संख्या पदार्थ के अलावा कुछ नहीं है अर्थात संख्या को हम पदार्थ के रुप में ही देखते हैं। अगर कोई अन्देशा नहीं करेंगे। क्योंकि इस दूरी को हम मानदण्ड देकर वतायेंगे कि सूर्य हमसे n किलोमीटर दूर है तो इसमें कोई अन्देशा नहीं करेंगे। क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस दूरी हम मानदण्ड देकर वतायेंगे कि सूर्य हमसे n =? किलोमीटर दूर है। संख्याके सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है कि संख्या किसको अभिहित करती है तथा मानसिक प्रक्रिया द्वारा संख्या का सिद्धांत क्या होगा? इसका उत्तर फ्रेगे इस प्रकार देते हैं कि संख्या की अवधारणा हम वाकी पदार्थों के अलावा नहीं वना सकते। अर्थात संख्या को हम पदार्थ के रुप में जान सकते हैं तथा पदार्थ के अलावा संख्या का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। संख्या को हम वाक्य तथा अभिकथन के द्वारा भी समझ सकते हैं। हमारी मानसिक प्रक्रिया इस प्रकार की है हम संख्या को अलग रुप में या यह नहीं वता सकते कि यह है। अर्थात "चार" को समझाने के लिए भी हमें वाक्य की आवश्यकता पड़ती है। वाक्य के द्वारा ही हम "चार" को समझा सकते हैं। वाक्य के घटक के रुप में शब्द की चर्चा की जाती है, परन्तु वाक्य से अलग शब्द की वात नहीं की जा सकती। जैसे - जुपीटर के ग्रहों की संख्या "चार" है। यहाँ पर हम यह नहीं कह सकते हैं कि "चार" क्या है? इस वाक्य के शब्दों के द्वारा ही हमें संख्या का ज्ञान होता है। संख्या शब्द का अर्थ वाक्य के संदर्भ में है। संख्या शब्द वाक्य से अलग कोई अर्थ नहीं रखता है, परन्तु वाक्य के अर्थ से संख्या का ज्ञान होता है। संख्या को हम विधेय (प्रेडीकेट या एट्रीवुट) के रुप में नहीं देखते हैं तथा पदार्थ होने के लिए यह जरुरी नहीं है कि वह भौतिक (Physical) ही हो। उनके मत में संख्या वस्तुनिष्ठ (Objective) है अर्थात् व्यक्ति पर आश्रित नहीं है। वह ज्ञाता से स्वतन्त्र है परन्तु तव वह किसी देश विशेप में होने की वात भी निरर्थक है। संख्या शास्त्र में संख्या को पदार्थ के रुप में माना गया है। उनके मतानुसार यदि आप किसी वस्तु को पदार्थ के रुप में स्वीकार करना चाहते हैं तो आपके पास भेदाभेद का आधार होना चाहिए। भेदाभेद मानदण्ड के आधार पर ही एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से अलग कर सकते हैं। अर्थात् भेदाभेद मानदण्ड के आधार पर एक संख्या को अन्य संख्या से अलग कर सकते हैं और यह वता सकते है कि यह संख्या कौनसी है तथा इस संख्या से किस रुप में भिन्न है या अलग है।[6]

ह्यूम के मत में दो संख्या समान तव होंगे जव एक संख्या समूह दूसरी संख्या समूह के साथ अनुरुप हो अर्थात् एक समूह में जितनी संख्या है उतनी ही संख्या दूसरे समूह में होनी चाहिए। गणितज्ञ के मत में समान का अर्थ है कि एक संख्या समूह में जितनी संख्या है तथा दूसरे संख्या समूह में जितनी संख्या है उन दोनों में एक-एक की अनुरुपता (one-to-one correspondence) होनी चाहिए। तव हम कह सकते हैं कि एक संख्या समूह दूसरे संख्या समूह के समान हैं। फ्रेगे ने इस प्रकार भी संख्या को परिभाषित किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। लेकिन संख्या के संप्रत्यय को दूसरी तरह से भी समझा रहा है। वह इस प्रकार है - फ्रेगे के अनुसार एक सरल रेखा a एक अन्य सरल रेखा b के समानान्तर है अर्थात् $a \parallel b$ । इस संप्रत्यय के आधार पर फ्रेगे ने रेखा a तथा रेखा b की दिशा को सिध्द किया है। उनके मत में यदि रेखा a रेखा b के समानान्तर है तो उनकी दिशा भी एक ही होगी। अर्थात् a और b की दिशा एक है। समानान्तर के आधार पर फ्रेगे ने एक नये संप्रत्यय दिशा को परिभाषित किया है। अगर दो सरल रेखाएँ तीसरी सरल रेखा के साथ समानान्तर है तो वे एक-दूसरे के साथ भी समानान्तर होगी। इसी प्रकार संप्रत्यय के वीच सम्वन्ध देखकर यदि वह सम्बन्ध 'वन-टू-वन' के अनुरुप है तो दोनों संप्रत्यय एक ही हैं। इसी प्रकार हम संख्या को भी परिभाषित कर सकते हैं। यदि दो संप्रत्यय एक है इसका मतलव है कि इनका विस्तार भी एक है अर्थात् दोनों में 'वन-टू-वन' सम्बन्ध है। अगर कोई रेखा a, b के समानान्तर है तो a का जितना विस्तार है उतना ही b का विस्तार होगा, या जितनी रेखाएँ a के समानान्तर है सभी a के विस्तार में आयेगी। जितनी रेखाएँ b के समानान्तर है सभी b के विस्तार में आयेगी। यदि a और b समानान्तर है तो a का विस्तार b के साथ समानान्तर ही होगा। जिस प्रकार प्रत्येक रेखा की एक दिशा है उसी प्रकार प्रत्येक संप्रत्यय की एक संख्या अवश्य है। एक संप्रत्यय दूसरे संप्रत्यय के समान है, कहने का अर्थ है कि उनका विस्तार एक ही है।[7] जैसे - जो संख्या 4, 6 से भाज्य है वह अवश्य 12 से भी भाज्य होगी। यहाँ पर विस्तार एक है। इस प्रकार फ्रेगे ने संख्या के संप्रत्यय को समझाया है।

संप्रत्यय के द्वारा किसी संम्वन्ध को भी जान सकते हैं, संप्रत्यय हमें सम्वन्ध का भी ज्ञान कराता है। जैसे - पृथ्वी चन्द्रमा के आकार से वड़ी है। प्रत्येक वस्तु एक संप्रत्यय f के अन्दर सम्वन्ध से है तथा g संप्रत्यय के साथ भी प्रत्येक वस्तु का से Φ सम्बन्ध है तो प्रत्येक वस्तु f और g, Φ सम्वन्ध से परस्पर सम्वन्धित है। इसका अर्थ यह है कि कोई वस्तु f के अन्दर Φ सम्वन्ध से है तो वह वस्तु अवश्य g के अन्दर भी Φ सम्वन्ध से रहेगी। फ्रेगे सहसम्वन्ध (one-to-one correlations) के आधार पर समसंख्यक को परिभाषित करता है। उनके मत में यदि संप्रत्यय f में वस्तु है तथा संप्रत्यय g में वस्तु है तो दोनों में "वन-टू-वन" सम्वन्ध तभी होगा, जव f की वस्तु तथा g वस्तु की वस्तु एक हो अर्थात् जितनी f में है उतनी ही g में हो। तभी हम कह सकते हैं कि f, g का समसंख्यक है। जैसे - यदि d, a के साथ सम्वन्ध से है और d, e के साथ सम्वन्ध से है तो a हमेशा e के समान है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

$$d \Phi a$$
$$d \Phi e$$
अर्थात् $a = e$

इसी प्रकार यदि d, a के साथ Φ सम्बन्ध से है और b, a के साथ Φ सम्बन्ध से है तो d हमेशा b के साथ समान होगा। इस सम्बन्ध के आधार पर हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि संप्रत्यय f, g के साथ समसंख्यक है। इसी प्रकार संप्रत्यय f का विस्तार संप्रत्यय g के विस्तार के साथ समसंख्यक होगा। क्योंकि जब संप्रत्यय f व संप्रत्यय g में परस्पर "वन-टू-वन" सम्बन्ध है तो यह सम्बन्ध इनके विस्तार में भी अवश्य होगा।[8]

स्वतन्त्र संख्या के बारे में फ्रेगे का मत है कि शून्य संख्या किसी संप्रत्यय को "ॲप्लाइ" कर सकती है, परन्तु अपने के साथ वह असमान है। उनके मतानुसार यदि दो संप्रत्यय रिक्त हैं तो रिक्त संप्रत्यय भी हमेशा समसंख्यक होंगे। यदि एक संप्रत्यय f, Φ सम्बन्ध के साथ रिक्त है तथा g संप्रत्यय भी Φ सम्बन्ध के साथ रिक्त है तो f, g के साथ समसंख्यक होगा। क्योंकि रिक्त समुदाय में भी "वन-टू-वन" सम्बन्ध रहेगा, इसलिये रिक्त समुच्चय हमेशा समसंख्यक होगा। परन्तु एक रिक्त समुच्चय अन्य समुच्चय के साथ समसंख्यक नहीं होगा, क्योंकि तव उनमें "वन-टू-वन" सम्बन्ध नहीं रहेगा।[9]

फ्रेगे ने संख्या के सम्बन्ध में परवर्ती (successor) को समझाया है। उनके मत में शून्य किसी भी संख्या का परवर्ती है, परन्तु 1, 0 का साक्षात् परवर्ती (1 is successor of 0) है। फ्रेगे ने प्रकृत संख्या अनुक्रम में परवर्ती को समझाने का प्रयास किया है। एक संप्रत्यय f है जिसमें a वस्तुयें है तथा यह संप्रत्यय n को भी "ॲप्लाइ" करता है अर्थात् उसमें n संख्या हैं, परन्तु n संख्या संप्रत्यय f की संख्या से भिन्न है वह संख्या m है। अतः प्राकृत संख्या अनुक्रम में n, m का परवर्ती है। फ्रेगे के मतानुसार एक संख्या कि एक एवं एक मात्र परवर्ती संख्या तो होगी ही परन्तु एक से अधिक परवर्ती संख्या भी हो सकती है। फ्रेगे ने संख्या संप्रत्यय को संक्रामक सिद्धान्त (TransitiveTheory) के आधार पर भी समझाया है। वे संख्या के सम्बन्ध में कहते है कि यह संख्या इसकी परवर्ती है तथा यह संख्या पूर्ववर्ती है। उनका कहना है कि एक संख्या के बाद दूसरी संख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आती है। संख्या के सम्बन्ध में एक ही श्रृखंला होती है, परन्तु पारिवारिक सम्बन्ध या अन्य वस्तुओं में सम्वन्ध एक श्रृंखंला में नहीं होता है, इनकी अनेक श्रृंखलायें होती हैं।[10] जैसे - शान्तनु पाण्डवों का पूर्वज था। यहाँ पर यदि पाण्डव जिस किसी के पूर्वज थे तो शान्तनु भी उसका पूर्वज होगा। कोई व्यक्ति अपने का पूर्वज नहीं होगा क्योंकि वह सम्वन्ध न तो पुनरावर्ती (Reflexive) है और न ही वह संक्रामक है। यहाँ फ्रेगे का कहना है कि यदि किसी संख्या a का सम्बन्ध b से है तथा b का सम्बन्ध c से है तो a का सम्वन्ध अवश्य c से होगा।

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर -३०२ ००४.

डॉ. नरेंद्र सिंह महला

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1) Benacerraf P. & Putanam. Hieds (second edition) Philosophy of Mathematics: Selected Reading , Cambridge University Press, 1983. p160.
2) Ibid, p 161-162.
3) Ibid, p 163.
4) Korner, S., The Philosophy of Mathematics: An Introduction, New York, 1962. pp 33-34.
5) Benacerraf, P. & Putanam, Hieds (second edition), Philosophy of Mathematics: Selected Readings, Cambridge University Press, 1983. pp 130-132.
6) Ibid, pp 132-134.
7) Frege, G., The Foundations of Arithmetic, Tr. J.L. Austin, Harper Brothers, New York, 1960. pp73-78.
8) Ibid, pp 83-86.
9) Benacerraf, P. & Putanam, Hieds (second edition) Philosophy of Mathematics: Selected Reading, Cambridge University Press, 1983. p145.
10) Ibid, pp 146-152.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"बौद्ध दर्शन के अपोह के प्रत्यय का विवेचन"

बौद्ध दर्शन के संदर्भ में सामान्य के प्रत्यय पर विचार का अर्थ है उसके अपोह के प्रत्यय को समझना चार्वाक और बौद्धों के अलावा सभी भारतीय दर्शनों में सामान्य के प्रत्यय पर विचार किया है।

बौद्ध दार्शनिक सामान्य के सम्बन्ध में स्थापित किये गये सभी सिद्धांतो का खण्डन करते हैं। वे सामान्य को किसी भी प्रकार की बौद्धिक या मानसिक भावात्मक सत्ता मानने के लिए तैयार नहीं है, उन्होंने सामान्य के सम्बन्ध में यथार्थवादी मत की आलोचना मुख्य रुपेण न्याय दृष्टिकोन को सम्मुख रख कर की है।

बौद्ध सामान्य को मात्र निषेधात्मक मानते थे और नैयायिक मात्र भावात्मक। आपसी वादविवाद के कारण दोनों को अपने दोषों का ज्ञान हुआ और अन्त में उनमें इतना ही अन्तर कि बौद्ध सामान्य के निषेधात्मक अर्थ को प्रमुख और भावात्मक अर्थ को गौण मानने लगे और नैयायिक भावात्मक अर्थ को प्रमुख और निषेधात्मक अर्थ को गौण मानने लगे। यहाँ हम बौद्धों द्वारा नैयायिकों की आलोचना को प्रस्तुत करेंगे।

१) नैयायिकों की यह मान्यता है कि सामान्य की विशेषों से पृथक और स्वतन्त्र सत्ता है। इस मान्यता का आधार वे अनुभव को मानते हैं। वे यह मानते हैं कि सामान्य नामक कोई नित्य पदार्थ नहीं हो तो हम विभिन्न विशेषों में एकत्व का ज्ञान नहीं कर सकते और न ही हम एक नाम को कुछ विशेषों के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं।

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि अनुभव हमें कभी भी विशेषों से पृथक सामान्य नामक किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कराता। हमें हमेशा विशेषों का ही ज्ञान होता है तो प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार का होता है। इसका नैयायिकों के पास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई विशेष सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति कहते हैं कि विभिन्न विशेषों में एकत्व स्थापित करने के लिए किसी भावात्मक सामान्य को मानना आवश्यक नहीं है। यह हमारे मस्तिष्क की कल्पना मात्र है।

२) नैयायिक सामान्य को अनुगत वृत्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। सामान्य को विशेष से न जोडा जा सकता है और न अलग किया जा सकता है। यह विशेष के साथ जन्म से होता है और अन्त तक रहता है। बौद्ध कहते हैं कि अनुगत वृत्ति जाति में ही नहीं होती अपितु उपाधि में भी होती है उनकों भी सामान्य समझना चाहिए। अध्यापकत्व सामान्य नहीं है क्योंकि कोई जन्म से ही अध्यापक नहीं होता लेकिन उसकी अनुगत वृत्ति तो होती ही है तब सामान्य की क्या आवश्यकता है ?

३) नैयायिकों के अनुसार सामान्य विशेष में पूर्णतः रहता है या अंशतः? यदि कहे कि एक सामान्य एक विशेष में पूर्णतः रहता है तो अन्य विशेषों में उसका अभाव मानना पड़ेगा। यदि कहें कि अंशतः रहता है तो यह मानना होगा कि सामान्य का कोई भाग एक विशेष में रहता है तो कोई दूसरे विशेष में।

४) यदि सामान्य नित्य है तो वह कहाँ रहता है ? उत्तर हो सकता है - व्यक्तियों के अन्दर। तव प्रश्न उठता है कि जव गाय उत्पन्न होती है तो सामान्य कहाँ से आता है। और जब मर जाती है तो कहीं चली जाती है। एक उत्तर यह हो सकता है कि सर्वत्र रहता है तो कभी विशेषों में सभी जातियाँ होनी चाहिये।

५) नैयायिक यह मानते हैं कि विशेष आपस में एक दूसरे से एकदम भिन्न भिन्न होते हैं। उनमें एक जाति ही सामान्य होती है। सामान्य विशेषों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। धर्मकीर्ति कहते हैं कि एक ही वस्तु एक साथ में दो विरोधी धर्म नहीं रख सकती। यह एक साथ समान और असमान नहीं हो सकती धर्मकीर्ति समवाय सम्बन्ध को नहीं मानते। वे दो ही प्रकार के सम्बन्ध मानते हैं - तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध।

सामान्य और विशेष के वीच तादात्म सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक दूसरे के एकदम विरोधी धर्म रखते हैं। इनके बीच तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि नित्य वस्तु अर्थ-क्रिया-कारो नहीं होती और सामान्य नित्य है।

बौद्ध दर्शन में अपोह -

बौद्ध दर्शन में सत् का लक्षण अर्थ-किया-कारित्व माना गया है। सत् वह जो किसी का कारण है किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला है। अर्थ-क्रिया-कारित्व केवल मात्र क्षणिक चत्तुये ही हो सकता है स्थाई वस्तु, सत् नहीं हो सकती क्योंकि कार्योत्पादन के लिये नाश आवश्यक है जो कि सत् वस्तु में आवश्यक नहीं है।

यह वौद्धों की तत्त्व मीमांसाकी स्थिति है। इसकी वजह से वे नित्य सामान्य को अस्वीकार कर देते हैं। वे इसे भावात्मक नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार जो भावात्मक होता है वह सत् होता है।

सामान्य को पूर्ण रुपेण अस्वीकार कर मानवीय ज्ञान और व्यवहार की बात भी नही की जा सकती क्योंकि स्वलक्षण (क्षणिक वस्तु) सर्वम भिन्न होते हैं। प्रत्येक स्वलक्षण सम्पूर्ण संसार के एकदम भिन्न होता हैं। ऐसे स्वलक्षण के लिए शव्द प्रयोग नहीं किया जा सकता और भाषा भाव में हम दैनिक व्यवहार की तथा व्यावहारिक ज्ञान की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए वौद्ध दार्शनिक सामान्य को "अपोह" के रुप में स्वीकार करते हैं। "अपोह" का अर्थ है "अतद्व्यावृत्ति" अर्थात् इससे अन्य का निषेध। इस प्रकार वौद्ध दर्शन में सामान्य को निषेधात्मक माना गया है। तथा यह वुद्धि का निर्माण है।

बौद्ध दर्शन में अपोह-वाद का विकास तीन चरणों में हुआ है। दिड़नाग और धर्मकीर्ति ने इसकी स्थापना की। उनके मत की कुमारिल और उद्योतकर द्वारा आलोचना किये जाने पर शान्तरक्षित और कमलशील ने उसमें परिष्कार किया। तत्पश्चात् वाचस्पति मिश्र द्वारा आलोचना किये जाने पर ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति ने उसमें और सुधार किया।

दिड़नाग और धर्मकीर्ति द्वारा अपोहवाद की स्थापना -

दिड़नाग ने अपने प्रमाण समुच्चय के पंचम परिच्छेद में अपोहवाद का प्रतिपादन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया है। उनके अनुसार दो प्रकार के पदार्थ हैं स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। दो ही प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है यह एक क्षणवर्ती होता है प्रत्येक स्वलक्षण दूसरे से अत्यन्त भिन्न होता है कोई भी दो स्वलक्षण समान नहीं हो सकते। वास्तव में स्वलक्षण की एक मात्रा सत् है।

सामान्य लक्षण अनुमान द्वारा होता है। सामान्य लक्षण कल्पना की उपज है। पांच मूल कल्पनाएँ हैं - १) नाम, २) जाति, ३) द्रव्य, ४) गुण और, ५) कर्म।

दिड़नाग ने विकल्प को शब्द से जोड़ दिया है।

विकल्प से शब्द और शब्द से विकल्प जन्म लेते हैं सम्पूर्ण विकल्पात्मक ज्ञान अभिव्यक्तात्मक है और सम्पूर्ण अभिव्यक्तात्मक ज्ञान विकल्पात्मक है।

हमारे विकल्प यथार्थ से कोई सम्वन्ध नहीं रखते। सभी विकल्प आपस में एक दूसरे से सम्वन्धित होते हैं। एक विकल्प का अर्थ अन्य विकल्पों का अर्थ इसी तरह समझा जाता है। शब्द और विकल्प एक समान क्षेत्र से सम्वन्ध रखते हैं। अतः सभी शब्दों का अर्थ भी इसी तरह समझा जाता है।

अपोहवाद क्षण प्रतिभास और विकल्प के द्वैत तथा भापा और विचार के सम्बन्ध पर आधारित है, शब्द का अर्थ व्यक्ति जाति आदि नहीं है क्योंकि ये वस्तु ही नहीं है वल्कि व्यक्ति, जाति आदि का तत्त्व भी केवल भापागत है। भापा वस्तुओं का चित्रण नहीं करती अपितु व्यावहारिक वस्तुएँ भापा निहित मूल कल्पनांओं का चित्रण करती हैं। अर्थ कल्पना का निर्माण है यह एक विभाजन रेखा के सदृश है जो कि निश्चित होते हुए भी स्पष्ट नहीं है। प्रतिभाप का विषय भावात्मक होता है। जवकि विकल्प का विषय अपोहात्मक होता है अतः अर्थव्यावृत्ति मात्र या अपोह मात्र होता है।

दिड़नाग का कहना है कि शब्द का अर्थ न विशेप हो सकता है और न सामान्य। विशेप के किसी भी प्रकार के विशेपणों का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह एक क्षणवर्ती होता है हमें उसका प्रत्यक्ष द्वारा मात्र संकेत ग्रहण होता है शब्द का अर्थ सामान्य भी नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य को नित्य माना जाता है। और ऐसे सामान्य को शब्द का अर्थ मानने पर हमें कई अपरिहार्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अतः शब्द का अर्थ अपोह ही हो सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्मकीर्ति कहते हैं कि शब्द न तो बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं और न मानसिक प्रत्ययों की ओर। वस्तु और प्रत्यय दोनों ही क्षणिक होते हैं। शब्दों का किसी भी प्रकार का भावात्मक अर्थ नहीं होता। शब्द निश्चित विकल्पों की ओर संकेत करते हैं। और इन विकल्पों का अर्थ अन्य विकल्पों का निषेध होता है।

सत् के बारे में हम कुछ नहीं कह सकते। हमें प्रत्यक्ष द्वारा सत् का ग्रहण मात्र ही होता है उसके बारे में हम यह भी नहीं कह सकते कि वह क्षणिक है। अतः हमारा समस्त शाब्दिक ज्ञान ऐसा जो अभिव्यक्त किया जा सकता है भ्रम मात्र है।

कुमारिल और उद्योतकर द्वारा आलोचना -

कुमारिल कहते हैं कि यह सही है कि शब्द के अर्थ में अन्यों का निषेध भी निहित रहता है लेकिन हमें उसका सीधा बोध नहीं होता। प्रत्यक्ष बोध तो हमें शब्द के भावात्मक अर्थ का होता है। किसी भी प्रकार के भावात्मक अर्थ को स्वीकार न करने के कारण अपोह शून्यवत है और प्रतीति विरुद्ध है। उद्योतकार कहते हैं कि जब तक हम भावात्मक अर्थ नहीं जानते तब तक निषेधात्मक अर्थ भी नहीं जान सकते। यह कहने में कि गो शब्द का अर्थ "अगो" व्यावृत्ति है और "अगो" शब्द का अर्थ "गोव्यावृत्ति" है अन्योन्याश्रम दोष आता है।

कुमारिल कहते हैं कि अपोहवाद को स्वीकार करने पर कई संगत निष्कर्ष स्वीकार करने पडते हैं। अपोह का अर्थ है -

इससे अन्य का निषेध यह अन्य या तो भावात्मक होगा या निषेधात्मक। यदि वह भावात्मक है तो वह सामान्य है क्योंकि विशेषों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। यदि अपोह अपने निषेध मात्र ही है। कोई भावात्मक अर्थ नहीं रखता तो शून्यवत है अर्थहीन है। उदाहरण के लिए "गो" शब्द का अर्थ यदि अंगो का निषेध "अ-अंगो" हो तो वह हीन ही है। कुमारिल बौद्धों के समक्ष एक उभयतः पास प्रस्तुत करते हैं - यदि अन्य अपने निषेध से भिन्न है तो सामान्य हैं और यदि भिन्न नहीं है तो समान नहीं है तो समान है समान मानने पर समस्त बौद्ध दार्शनिक ढाँचा नष्ट हो जाता है। क्योंकि तत्त्व किसी भी चीज का अर्थ कुछ भी या सभी वस्तुएँ हो सकती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि बौद्ध दार्शनिक कहें कि अपोह अपने निषेध नहीं है अपितु किसी भी पद का अर्थ अपने से निषेध में ही समझा जाता है तो कुमारिल कहते हैं कि यह कथन सब पर लागू नहीं होता। सत् ज्ञेय आदि पदों का अर्थ मानने के लिए हमें इनसे अन्य "असत्" अज्ञेय आदि का निषेध करना पड़ेगा पर इनसे हम जान नहीं सकते। उधोतकार कहते हैं कि सर्व शब्द का निषेध "असर्व" निरर्थक है क्योंकि "सर्व" में सब कुछ आ जाता है। अतः इसके निषेध को हम कैसे समझ सकते हैं।

अपोह को शब्द और हेतु से प्रतिपादित हुआ माना जाता है किन्तु वस्तुगत साधारण धर्म के अभाव में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध किसी प्रकार स्थापित होगा? प्रत्यक्ष गोचर विशेष शब्द के क्षेत्र से बाहर है। शब्दार्थ ज्ञान अनुमान से जाना जाता हे। शब्द का किसी वस्तु में संकेत आवश्यक है जो कि वौद्धों को स्वीकार्य नहीं हैं।

अपोहवाद से व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती वस्तुतः "गो" शब्द का संकेत "गोत्व" में होता हैं। अन्य व्यावृत्ति में नहीं।

अपोह में भेद और नियम वासना से उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि जब वाह्य विषय ही नहीं है तो उनकी वासना ही कहीं से होगी।

अपोह का वाचक अर्थ कैसे उपलब्ध होगा? शब्द स्वलक्षण की ओर संकेत नहीं करता तथा वह सामान्य भी स्वीकार नहीं किया जा रहा। वाच्य रुप अपोह की तरह ही वाचक रुप अपोह भी अवास्तविक और कल्पित हो जायेगा। अतः उनके वीच सम्बन्ध भी वैसा होगा जैसा की आकाश , कुसुम और शशश्रृंग में होगा।

शान्तरक्षित और कमलशील द्वारा अपोहवाद का उद्धार और परिष्कार

शान्त रक्षित कहते हैं कि अपोहवाद की आलोचना का कारण इस सिद्धान्त का सही ज्ञान नहीं होना है वास्तव में अपोह दो प्रकार का होता है -

पर्युदास और प्रासब्ध प्रतिषेध - पर्युदास प्रतिषेध में विधि के लिए निषेध होता है। तथा प्रासब्ध प्रतिषेध में निषेध के लिए निषेध होता है। अपोह का अर्थ प्रसब्ध प्रतिषेध नहीं है अपितु पर्युदास प्रतिषेध है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रर्युदास भी दो प्रकार का होता है -

१) अध्यात्मिक २) अर्थात्मक

विभिन्न स्वलक्षणों में भेदाग्रह द्वारा एक अनुगत बुद्धि एक जाति के प्रत्यय का निर्माण किया जाता है। तथा अन्य विकल्पों का निषेध करके उसका अर्थ जाना जाता है। यहीं बुध्यात्मक अपोह है। विजाति व्यावृत अर्थ स्वलक्षण की अर्थात्मक अपोह है इससे हम एक स्वलक्षण को प्राप्त करने के लिए समस्त विकल्पों का निषेध करते हैं।

जैसे हरीत की आदि औषधियाँ भिन्न होते हुए भी ज्वर शमन में सहायक होती हैं। वैसे ही विभिन्न स्वलक्षण भिन्न भिन्न होते हुए भी एक प्रत्यक्ष के निर्माण में हेतु बनते हैं उनके सहारे जो सविकल्पक ज्ञान में वाह्य अर्थ प्रतिविम्ब उत्पन्न होते हैं वे बाह्य अर्थ न होते हुए भी बाह्य अर्थ निश्चित किये जाते हैं।

शब्द का सीधा अर्थ न तो प्रसब्ध प्रतिषेध होता है और स्वलक्षण शब्द निषेध से हम कुछ भी नहीं समझ सकते। इसलिए शब्द का भावात्मक अर्थ होना आवश्यक है। अपोह न तो एक वस्तुनिष्ठ वास्तविकता है और न व्यक्ति निष्ठ। वस्तुनिष्ठ सत् केवल मात्र शुद्ध स्वलक्षण है। अपोह का अपरोक्ष अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि हमें इसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। अतः यह शब्द और विकल्प से परे है व्यक्ति निष्ठ सत् क्षणिक मानसिक विचार ही हो सकते हैं। अपोह इनके अन्तर्गत भी नहीं आता। अपोह बुद्धि का निर्माण है। इसका निर्माण क्षणिक वस्तुओं के भेदों को नजरअन्दाज करके होता है और इस भ्रम पर आधारित है कि इसके अनुसार बाह्य जगह में वस्तुऐं है। यह असत् है और अविधा पर आधारित है। जो सत् होता है वह भावात्मक होता है। अपोह सत नहीं है। अतः यह अभात्मक भी नहीं है।

शान्तरक्षित कहते हैं कि शब्द के दो पहलू स्वीकृति और निषेध होते हैं। शब्द का सीधा संकेत अपने अर्थ विकल्प की ओर होता है। उसमें अन्य विकल्पों का निषेध रहता है। उदाहरण के लिए यदि कोई कहे कि "देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता" तो इसमें यह भी निहित है कि वह रात में खाना खाता है जबकि इसमें स्वीकृति देवदत्त के दिन में खाना नहीं खाने की है। शब्द को केवल भावात्मक माना जाये तो हम उसको अन्य शब्दों से भेद नहीं कर सकते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः शब्द भावात्मक अर्थ पर जोर देता प्रतीत होता है पर उससे निषेधात्मक अर्थ भी निहित रहता है तथा दोनों का बोध पूर्वापार रुप से होता है।

शांतरक्षित के अनुसार स्वलक्षण और विकल्प में निषेधात्मक समानता है विभिन्न स्वलक्षणों में भेदाग्रह द्वारा विकल्प बनता है। स्वलक्षण "गो" और विकल्प "गो" दोनों में इतनी ही समानता है कि दोनों का अर्थ अन्य व्यावृत्ति द्वारा निर्धारित होता है स्वलक्षण "गो" की तरफ बुध्यात्मक अपोह संकेत करता है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्धों की आलोचना

वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका में बौद्धों की आलोचना मुख्य रुप से भिन्न दो बिन्दुओं के आधार पर की है -

१) सारुप्य (निषेधात्मक समानता २) भेदाग्रह

१) सारुप्य (निषेधात्मक समानता) -

बौद्धो के अनुसार सामान्य लक्षण और स्वलक्षण में अन्य व्यावृत्ति रुप समानता है। विकल्प "गो" और विशेष गो दोनों का अर्थ "अगोत्वावृत्ति" से निर्धारित होता है। इसके अलावा सत् और भ्रमपूर्ण विकल्प में कोई समानता नहीं है। वाचस्पति पूछते हैं कि यह अतद्व्यावृत्ति वास्तविक है या बौद्धिक? यदि यह वास्तविक है तो स्वलक्षण तो विधि रुप होता है। अतः द्रव्यावृत्ति निषेध रुप होता है। प्रश्न उठता है कि स्वलक्षण और अतद्रव्यावृत्ति भेद रुप है या अभेद रुप? यदि वह भेद रुप है तो वह स्वलक्षण का विशेषण हो जायेगा और बौद्ध दार्शनिक विधिरुप वस्तु का निषेधात्मक गुण स्वीकार नहीं कर सकते। यदि वह अभेदरुप है तो यह मान्यता तो आत्म व्याघाती ही है क्योंकि विधि और निषेध एक साथ नहीं हो सकते। यदि वे व्याघात को अस्वीकार करते तो सामान्य लक्षण को विधिरुप मानना होगा और तब वह वास्तविक हो जायेगा या स्वलक्षण अपना विधिरुप खो देगा।

यदि यह कहा जाये कि अपद्रव्यावृत्ति सत् और विकल्प गो के बीच सरुपता बनाये रखने के लिए एक काल्पनिक सिद्धांन्त है तब तो फिर मक्खी और हाथी भी समान हो जाएँगे क्योंकि दोनों गधे से भिन्न हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यह कहा जा सकता है कि अतद्व्यावृत्ति सत् और विकल्प गो के बीच सरुपता बनाये रखने के लिए एक काल्पनिक सिद्धांन्त है तब तो फिर मक्खी और हाथी भी समान हो जायेंगे क्योंकि दोनों गधे से भिन्न हैं।

यह कहा जा सकता है कि समानता विकल्पित सामान्य और परमार्थ मूल स्वलक्षण की नहीं है अपितु विकल्पित सामान्य और सविकल्पक प्रत्यक्ष गोचर प्रतीयमान स्वलक्षण की है। लेकिन कल्पित सामान्य और कल्पित स्वलक्षण दोनों ही अर्थक्रिया कारी नहीं होते। अर्थक्रियाकारित्व केवल परमार्थ भूत व स्वलक्षण में कल्पना का आरोप ही किस प्रकार होगा क्योंकि उसमें सारुप्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

वाचस्पति मिश्र पूछते हैं कि हमारे विकल्पों का आधार क्या है - अनुमान या अनादि अविद्या?

यदि विकल्पों का आधार अनुमान है तो ये भ्रम नहीं हो सकते क्योंकि तब ये यथार्थ पर आधारित होंगे। पहले हमें वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होगा और फिर विकल्प बनेंगे। लेकिन यह बौद्धमान्यता के एकदम विपरीत है। यदि कहा जाय कि अनादि अवधि पर आधारित है तो एक नारिकेलद्वीप से आये हुए व्यक्ति को पहली बार अग्नि देखते ही उसका ज्ञान हो जाना चाहिए।

२) भेदाग्रह -

भेद के अग्रहण को लेकर भी वाचस्पति मिश्र ने आलोचना की है। बौद्ध कहते हैं कि विकल्पों का आधार स्वलक्षणों के बीच के भेद को नहीं पकडता है। साथ ही वे कहते हैं कि स्वलक्षण के बारे में हम यह भी नहीं जान सकते कि वे क्षणिक हैं। यह भी हमारी कल्पना है समस्त अभिव्यक्तात्मक जगत विकल्पात्मक है ऐसी अवधि में हम किसी भी विकल्प को सम्पूर्ण विश्व के साथ जोड़ सकते हैं क्योंकि बोद्धों के भेदाग्रह की कोई सीमा नहीं दी है। फिर जिस तरह अभेद कल्पित है। अतः भेदाग्रह की कल्पना निरर्थक है।

आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। केवल विज्ञानों का प्रवाह मात्र है। अतः स्थायि विकल्प किस प्रकार रह सकते हैं? ज्ञानाकार और स्वलक्षण दोनो ही क्षणिक हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षणिक विज्ञान प्रवाह में कल्पनायें भी क्षणिक होगी तब स्थायि सामान्य कहां रहेंगे? अतः वोद्धों के अनुसार स्वलक्षण के समान ही सामान्य लक्षण भी क्षणिक होने चाहिए और तब किसी भी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं है।

ज्ञानश्री और रत्नकीर्ति द्वारा अपोहवाद में संशोधन और विकास

ज्ञानश्री ने सरुपता और भेदाग्रह का परित्याग कर दिया और अपोह को पर्युदास प्रतिषेध के रुप में ही स्वीकार किया। वे अपनी निवन्धावलि निम्न श्लोक (यहाँ भावार्थ दिया जा रहा है) से प्रारम्भ करते हैं "शब्द और हेतु से अपोह व्यक्त होता है।" इस व्यवस्था को सभी वस्तुओं की अवाव्यता के लिए प्रतिपादित किया जाता है।

स्वलक्षण का बोध प्रत्यक्ष द्वारा होता है। तथा प्रत्यक्ष के विषय देश काल और व्यवस्था में नियत और परिस्फुट रुप वाले होते हैं। लेकिन विकल्प के विषय में इस प्रकार के नहीं होते। प्रत्यक्ष के विषय स्पष्ट होते हैं। तथा विकल्प के विषय अस्पष्ट होते हैं। हमारे कथनों का उद्देश्य दैनिक जीवन के लिए कार्यकारी वस्तुओं का ज्ञान कराना होता है। ये कार्यकारी वस्तएँ स्वलक्षण ही है। अतः हमारे कथन विधिरुप वस्तु की और ही संकेत करते हैं। प्रश्न उठता है कि जब शब्द विधिरुप वस्तु की और ही संकेत करते हैं तो उनका अर्थ अपोहात्मक क्यों कहा जाता है? ज्ञानश्री कहते हैं शब्द विधिरुप अर्थ का ही अभियान कैसे हैं लेकिन यह अभियान अन्य व्यावृत्ति द्वारा ही जाना जाता हैं क्योंकि स्वलक्षण अभिव्यक्ति से परे है। अपोह पर जोर इसलिए नहीं दिया जाता कि शब्द से विधि रुप अर्थ की स्फूर्ति नहीं होती अपितु इसलिए दिया जाता है कि - शब्द अपने अर्थ निर्धारण में अन्य अर्थों का व्यवच्छेद करते हैं। वस्तु स्वभाव शब्द प्रतिफल नहीं है। यदि वस्तु स्वभाव को विधि रुप माने तो शब्द प्रतिषेध को अपोहात्मक माने में ही सार्थकता होगी।

रत्नकीर्ति ने अपने ग्रन्थ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है - शब्द के बाह्य अर्थ - वस्तु आन्तरिक अर्थ - वुद्धिगत आकृति - दोनों ही विधिरुप हैं। और भावात्मक है। वे अपोह नहीं कहे जा सकते। निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति "घर" "पर" आदि शब्दों से साक्षात नहीं होती। अनुभव से यह स्पष्ट होता हैं कि शब्द के भावात्मक अर्थ की ही स्फूर्ति होती है न कि अभावात्मक अर्थ की।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रत्नकीर्ति इसके उत्तर में स्वीकार कर लेते हैं। कि शब्द का मुख्य अर्थ विधि रुप है। पर वे अन्यव्यावृत्ति विना उसका अभियान नहीं करते। शब्द से उत्पन्न ज्ञान किसी का साक्षात्कार नहीं होता अपितु परोक्ष और अपरोक्ष होता है।

ज्ञानश्री शान्तरक्षित के इस मत का अर्थ पूर्वापर रुप से विधेधात्मक और निषेधात्मक होता है अस्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि प्रथम क्षण में जिस विधि रुप का वोध होता है। वे अगले क्षण नहीं रहते। अतः फिर उससे अन्यव्यावृत्ति किस प्रकार की जा सकती है। इसलिए वे मानते हैं कि शब्द के भावात्मक और निषेधात्मक अर्थों का वोध एक साथ होता है और विना निषेधात्मक अर्थ के हम भावात्मक अर्थ को नहीं पकड सकते।

निष्कर्ष

बौद्ध दर्शन का सामान्य का सिद्धांन्त उसकी ज्ञान मीमांसा पर आधारित है। तत्व मीमांसा की दृष्टि से तो वे सामान्य लक्षण को अस्वीकार कर देते हैं पर इस मान्यता के आधार पर ज्ञान की व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रत्येक विशेष स्वलक्षण अभिव्यक्ति की सीमा से एकदम परे होता है हमारा अधिकांश और सम्पूर्ण व्यवहार भाषा पर आश्रित है। अतः वौद्ध एक कल्पित और असत् सामान्य लक्षण को स्वीकार करते हैं जो कि अनादि वासना और वुद्धि का निर्माण है तथा जिसका अर्थ अपेक्षात्मक होता है।

दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित अपोहवाद में काफी संशोधन और परिवर्धन हुआ है यह सिद्धान्त हमारे समक्ष तीन चरणों में आता है -

प्रारम्भ में अपोह को पूर्ण रुपेण निषेधात्मक माना गया। तत्पश्चात् शब्द के भावात्मक और निषेधात्मक अर्थ का बोध पूर्वापार रुप से माना गया तथा शब्द का अर्थ भावात्मक माना गया और निपेधात्मक अर्थ उसमें निहित माना गया। यह मान्यता वौद्ध परम्परा से कुछ हटी हुई थी।

ज्ञान की व्याख्या के लिए वाह्य जगत् में सादृश्य और समानताएँ मानना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक है। जो दर्शन ऐसा नहीं मानता उसे तार्किक रुप से संदेहवादी है अतः यह मानवीय ज्ञान की संगत व्याख्या करने में अक्षम है।

०१, रमन छात्रावास,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर - ३०२ ००४.

औतार लाल मीणा

संदर्भ

१) धर्मकीर्ति विरचित प्रमाणवार्तिक, राहुत सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित भाग - द्वितीय पृष्ठ ४१-४८.

२) कुमारिल कृत श्लोकवार्तिक, मद्रास विश्वविद्यालय प्रेस, अनुवादक दुर्गाप्रसाद।

३) उद्योतकरकृत न्यायवार्तिक, चौखम्वा प्रकाशन से प्रकाशित पृष्ठ ३२७-२८ एवं ४८३-९१.

४) शान्तरक्षित कृत तत्त्व-संग्रह, कमलशील द्वारा की गई टीका के साथ जी.ओ.एस वडोदा से प्रकाशित, १९२५

५) रत्नकीर्ति कृत अपोहसिद्धि डॉ. गोविन्द चन्द्र पांडे द्वारा अनुवादित एवं दर्शन प्रतिष्ठान जयपुर द्वारा प्रकाशित।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिनकर के काव्य में अरविंद-दर्शन का प्रभाव

हिन्दी साहित्य में एक राष्ट्रीय कवि के रुप में श्री रामधारी सिंह दिनकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है, एक राष्ट्रीय कवि होते हुए भी उनके काव्य में श्रृंगार एवं दार्शनिक भावना दृष्टिगोचर होती है, दिनकर के दार्शनिक विचारों पर नवजागरण के नेताओं का काफी प्रभाव पडा है, उनमें स्वामी विवेकानन्द, वालगंगाधर तिलक, महायोगी अरविन्द, महम्मद इकवाल, महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि है। इनमें श्री अरविन्द का काफी प्रभाव दिखाई देता है।

अरविन्द आधुनिक काल के एक राजनीतिज्ञ व देशभक्त होने के साथ साथ एक महाकवि भी थे। यद्यपि अरविन्द गांधी के समान सुधारक नहीं वरन् एक विचारक थे, दार्शनिक थे, जिनकी दृष्टि में समूचे विश्व का सूक्ष्म-जीवन समाया रहता था। "श्री अरविन्द के व्यक्तित्व में योगी, कवि और दार्शनिक तीनों का समन्वय था। और वे सव के सव एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील थे इसलिए श्री अरविन्द का ध्यान करते समय ऐसा भासित होता है मानो हम मानवता के महासूर्य को देख रहे हों।"[1]

अरविन्द ने सृष्टि विकास के क्रम में मानव को सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट विकास माना है। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं एक विचारशील जीवन प्रयोगशाला है। अरविन्द का मार्ग संन्यास और भौतिकता का मध्यवर्ति मार्ग है। अरविन्द यह मानते हैं कि ब्रस्म, प्रकृति और जीवात्मा एक ही सत्ता की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जब जीवात्मा के प्रभाव में होती है तो वह द्वैत की स्थिति में रहती है किन्तु जब मन निम्न माया से उठकर उर्ध्व चेतना को अनुमति की अवस्था में प्रविष्ट होता है तो वह जीव, जगत और ब्रस्म में द्वैत नहीं दिखाई देता। अरविन्द दर्शन वास्तव में सम-न्वय का दर्शन है जिसके अंतर्गत परमसत्ता को असीम औ निरपेक्ष माना गया है। इसके साथ ही जड़ और चेतन में भी एक ही परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानी गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री अरविन्द की योगसिद्धि एवं उनके तत्त्वदर्शन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उनका अतिमानस का सिद्धांत है। अतिमानस के सिद्धांत द्वारा उन्होंने "एक नई चेतना का अविष्कार ही नहीं किया - एक नया विश्व का निर्माण भी किया। उनका समस्त दर्शन समस्त योग उस ईश्वर प्रेमी का योग है जो ईश्वर की सृष्टि को निश्चेतन के अंधकार से अतिमानस के प्रकाश, अज्ञान से पूर्ण ज्ञान, दुःख से आनंद, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाना चाहता है। वे जिस आनन्दवाद और आशावाद के स्वर से अपने दर्शन को युक्त कर देते हैं वह आज के विषण्ण जीवन में प्राण संचार करेगा, इसमें संदेह नहीं है। इसी भाँति अरविन्द का विकास तथा पूर्णयोग का सिद्धांत उनकी अपनी विशिष्ट देन है।"

आधुनिक हिन्दी कवियों में दिनकर ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अरविन्द से प्रभावित कविताएँ ही नहीं लिखी वस्तु उनकी विचारधारा का विवेचन भी किया है। श्री अरविन्द ने कहा है कि कवि योगी होता है क्योंकि कवि भी साधारण मन के स्तर से आगे उठता है, मन के सहज स्फुरण के स्तर से कवि केवल वस्तुओं के भौतिक अर्थ को नहीं देखता, आध्यात्मिक अर्थ को भी देखता है। दिनकर भी मानते हैं कि कवि विश्व की आधिभौतिक व्याख्याताओं को स्वीकार नहीं करता है, आध्यात्मिक व्याख्या के लिये प्रयास करता है। प्रत्येक कविता किसी-न-किसी हद तक आध्यात्मिक होती है, श्री अरविन्द मानते हैं कि वह जो अकदय को कदय वनाने का प्रयास करे। श्री अरविन्द ने काव्य को जीवन की आलोचना नहीं व्याख्या कहा है दिनकर का मत भी ऐसा ही है।

अरविंद दर्शन तथा दिनकरजी के जीवन दर्शन के मूलस्त्रोत वैदिक दर्शन एवं पाश्चात्य आध्यात्मिक दर्शन हैं। "कुरुक्षेत्र" में अभिव्यक्त दिनकर का मानव शक्तियों में विश्वास, जीवन से भाग कर नहीं जीवन में रहकर जीवनोन्नति की प्रतिष्ठा, कर्म द्वारा भाग्य को भी वदल देने की भावना, वैयक्तिक मोक्ष की अपेक्षा सामूहिक आत्मोन्नति में विश्वास, निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा आत्मा के आवरण शरीर आदि को आत्मज्योति से प्रकाशित करने की भावना जीवन की अमरता में श्रद्धा आत्मिकता और भौतिकता का सम-न्वय, मानव वौद्धिक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों में सामंजस्य की आवश्यकता, अहंकार का त्याग और ईश्वरेच्छा का अनुगमन, निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय आदि ऐसे तत्त्व हैं जो अरविंद दर्शन के समानांतर है। फलतः कहा जा सकता है कि कवि दिनकर की आध्यात्मिक मनोवृत्ति अरविंद दर्शन के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए अनुकूल थी, अरविंद दर्शन के अनुसार आत्मोभति का क्षेत्र जीवन से परे नहीं, जीवन ही है और यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्नति पूर्णतः तभी सिद्ध होगी जव सम्पूर्ण जीवन और जगत उन्नत होगा।

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने मानव जीवन से संवंधित जितनी भी समस्याएँ उठाई हैं उनका समाधान, भारतीय एवं पाश्चात्य आस्थावादी आध्यात्मिक दर्शन के अनुसार तत्त्व ग्रहण करके प्रस्तुत करने का यत्न किया है। कवि को मानवशक्तियों पर विश्वास है, उसे मानव को गिराकर भी उठ जाने की शक्ति पर श्रद्धा है। वह जीवन की आग से डरकर भागने की अपेक्षा उसमें तपकर कुंदन वनने को श्रेयस्कर समझता है, तभी कह उठता है -

जय हो, अघ के गहन, गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल, अवोध पुत्र की, पुरुष ज्योति-संभव की
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी
न्योंछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि संन्यासी[2]

श्री अरविन्द की दार्शनिक विचारधारा का स्त्रोत उपनिषद और गीता है। उन्होंने जगत् को ईश्वर की अभिव्यक्ति माना है। जीवात्मा ईश्वर अंश है, धरती पर मनुष्य ईश्वर के यंत्र के रुप में कार्य करता है, दिनकर ने 'उर्वशी' में इसी भाव की व्यंजना की है।

यह सब उनकी कृपा सृष्टि जिनकी निगूढ़ रचना है
झुके हुए हम धनुष मात्र हैं तनी हुई उस ज्या पर से
किसी और की इच्छाओं के वाण चला करते हैं,[3]

अरविन्द के अनुसार ईश्वर निष्क्रिय है, सृष्टि की समस्त क्रियाओं का सम्पादन प्रकृति कर रही है। प्रकृति को शक्ति ईश्वर से ही प्राप्त है। अरविन्द प्रकृति को माया मानकर, उसका निषेध नहीं करते है। उन्होंने प्रकृति के दिव्य रुपान्तर को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया है। उर्वशी में ईश्वर और प्रकृति के प्रति इसी भाव की व्यंजना है। दिनकर ने प्रकृति के परिवर्तन का समर्थन अपने ढंग से किया है।

भ्रांति नहीं अनुभूति जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं
शत्रु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिवल है
ईश्वरीय जग मित्र नहीं है, इस गोचर जगती से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिवर्तन प्रक्रिया प्रकृति की सहज प्राणधारा है।[4]

श्री अरविन्द ने मॅटर के साथ आत्मा को स्वीकार किया है। दिनकर "धरती और आकाश" कविता में देह और अदेह की एकता की व्यंजना करते है -

अदेह की विभा
देह में झलक मारती है
और देहकी ज्योति
अदेह की आरती उतारती है।
द्वैताद्वैत से परे
मेरी एक विनम्र टेक है प्रभो, मैं और तुम
दोनों एक हैं।[5]

श्री अरविन्द ने कहा है कि "इन्द्रिय, प्राण, मन और प्रकृति के उपकरण हैं और प्रकृति इन्हीं उपकरणों को उत्तम वनाकर, रुपान्तरित करके अतिमानस की ओर गमन किया जा सकता है।" कठिनाइयाँ भावी विकास का सूचक होती हैं, दिनकर भी इसी भाव की व्यंजना करते है।

सुख निद्रा की निशा विपद जागरण प्रात का,
किरण पर चढ़ पकड प्रकृति उत्तम
हृदय, आकुल मन होना[6]

अरविन्द दर्शन का केन्द्रविन्दु सर्वशक्तिमान पूर्ण ब्रह्म है जो उपनिषदों में सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है। ब्रह्म की अनन्तता एव निरपेक्षता के कारण मन उसका निश्चित रुप नहीं जान सकता। उपनिषद सदृश अरविन्द के दर्शन के परमतत्त्व सत् चित् और आनन्द ब्रह्म है, मनुष्य की चेतना उस सच्चिदानन्द की खोज में नित्य ही संलग्न है। श्री अरविन्द का ब्रह्म अचिंत्य एवं अगत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म किसी भी विशिष्ट विशेषण तक परिसीमित नहीं किया जा सकता। सभी चर-अचर, जड़ चेतन ब्रह्म में गर्भस्थ हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्म यह सब परब्रह्म है। जीव और प्रकृति में हम जो कुछ भी देखते हैं उस सवका यथार्थ स्वरुप यह परमात्मा तत्त्व ही है और यह उस परब्रह्म से भिन्न नहीं ब्रह्म दृश्य-अदृश्य रुप में सर्वत्र व्याप्त है, 'उर्वशी' में यही भाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ध्वनित होता है -

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोचर जगत से
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन सना हुआ है,[7]

अरविन्द के अनुसार जड़ और चेतन में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। दोनों एक ही परमसत्ता के दो छोर हैं। अतः दोनो एक ही हैं। जड़ चेतन का ही रुपाकार है। जड़ और चेतन में परस्पर विरोध नहीं है अपितु व्रह्म रुपी सागर के गति रुपी आन्दोलन से उत्पन्न होती लहरें हैं। इस विराट विश्वसृष्टि कें यदि दो अर्थ माने जाए तो पराई में सत् चित् आनन्द एवं सुपर माइण्ड एवं अधीनस्थ शक्ति के रुप में अपराई में उन्हीं के प्रतिविंव क्रमशः जड़, प्राण, चैत्य पुरुष एवं मन है। इस प्रकार सत् यदि अपने को प्रकाशित करना चाहता है तो उसे जड़ात्मक आवरण धारण करना होगा। वैसे ही यह जड़ात्मक आवरण भी उसी का स्वेच्छया परिगृहीत रुप है।

दिनकर ने भी अरविन्द दर्शन से प्रभवित होकर इस तथ्य का ही निरुपण किया है कि उर्ध्व स्थिति चैतन्य ही गर्त के तम अर्थात् जड़ में समाविष्ट है अतः जड एवं चेतन का समान महत्त्व है। उर्वशी में यही भाव व्यंजित होता है।

शिखरों में जो मौन, वही झरनों में गरज रहा है
ऊपर जिसकी ज्योति छिपा है वह गर्त के तम में [8]

इसी प्रकार दिनकर की दृष्टि में अरविंद काव्य का मूल सन्देश एक उच्च आध्यत्मिक संदेश है, इसका कारण स्पष्ट करते हुए दिनकर ने लिखा है - एक मान्यता रही है कि मनुष्य कविता के माध्यम से अपना विकास कर सकता है, किंतु कविता को अरविन्द ने अपने विकास का नहीं, प्रायुत आध्यात्मिक अनुभूतियों के दान का माध्यम बनाया,[9] इस प्रकार दिनकर अरविन्द के काव्य और उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों के संपर्क में न आए। श्री अरविन्द की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ ही उनका दर्शन है जिसे उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

श्रीनिवास पात्रो
हिंदी विभाग
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद - ५०० १३४.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१) चेतना की शिखा - भूमिका - दिनकर
२) कुरुक्षेत्र - दिनकर - पृ. २०५
३) उर्वशी - दिनकर - पृ. ४५
४) वही - पृ. २७
५) हारे को हरिनाम - दिनकर - पृ. २५२
६) हारे को हरिनाम - पृ. २५६
७) उर्वशी - दिनकर - ७४
८) आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में दार्शनिक अनुचिन्तन डॉ. देवदत्त शर्मा - पृ. ३२६
९) संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर - पृ. ६२०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समीक्षा

- १ -

(ग्रन्थ - वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरुपण लेखिका - डॉ. शशिप्रभा कुमार)

(प्रकाशक - प्रकाशन विभाग, दिल्ली - विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९२ पृष्ठ संख्या - ६७० मूल्य रु. ४५०/-)

डॉ. शशिप्रभा कुमार द्वारा रचित ग्रन्थ "वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरुपण" वस्तुतः वैशैषिक तत्वमीमांसा का एक विश्वकोश है। इस ग्रन्थ में व्यापक तथा गहन पठन एवं अध्ययन के उपरान्त विपुल सामग्री का चयान और संकलन कर व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण हुआ है। लेखिका को प्रतिपाद्य विपय का अधिकाधिक ज्ञान है और आद्योपान्त इनका वैदुष्य इस ग्रन्थ में झलकता है। इनकी वैचारिक स्पष्टता और भाषाकीय सुलभता सराहनीय है। हिन्दी भाषा में वैशेषिक दर्शन पर यह एक अनूठा एवं अप्रतिम ग्रन्थ है जो वैशेषिक दर्शन की महत्ता को अग्रसर करता है।

पन्द्रह अध्यायों, दो परिशिष्टों तथा विस्तृत ग्रन्थ - सूची से युक्त यह ग्रन्थ वस्तुतः न्याय-वैशैषिक दर्शन-परम्परा का एक अमूल्य सन्दर्भ ग्रन्थ है जो प्रत्येक पुस्तकालय में उपलब्धि-योग्य है तथा प्रत्येक दर्शन के विद्यार्थि के लिए अपरिहार्य है। मेरी दृष्टि में यह एक आदर्श शोध-प्रवन्ध है और शोधार्थियों के लिए एक उत्कृष्ट नमूना है। प्रत्येक पृष्ठ पर सन्दर्भ, पादटिप्पणियाँ आदि दुर्लभ सामग्री से परिचय कराते हैं तथा विवेचित विषय की स्पष्टता एवं सुवोधता को भी वढ़ाते हैं। वैदुष्य एवं शोधाश्रम के अद्वितीय संगम के लिए लेखिका साधुवाद कि पात्रा हैं। विशेपकर मध्यकाल से कुछ अल्पज्ञात आचार्यों के मन्तव्यों को प्रस्तुत करने का इसमें अभिनन्दनीय प्रयास हुआ है।

वैशेषिक तत्वमीमांसा का केन्द्रविन्दु 'पदार्थ' का प्रत्यय है। जो अस्तित्वान् है, ज्ञेयत्व से युक्त है और अभिघेयत्व की सामर्थ्य वाला है, वही पदार्थ है। जिसका अस्तित्व नहीं है या नहीं हो सकता है, वह पदार्थ नहीं हो सकता। अतः आकाश-कुसुम पदार्थ नहीं हो सकता क्योंकि इसका अस्तित्व संभव नहीं है। 'संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' का उद्घोष करने वाला वैशेषिक दर्शन, जिसमें न्याय दर्शन की परम्परा अनुस्यूत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, कट्टर वस्तुवादी है। जिन वस्तुओं का हमें अनुभव होता है या हो सकता है, वही सत् है। लौकिक अनुभव में प्रदत्त सत् धर्मीरुप है जिसमें धर्म आश्रित होकर रहते हैं। धर्म-धर्मी-भेद का सिद्धांन्त न्याय-वैशेषिक परम्परा का मूल आधार है। प्रस्तुत प्रबन्ध में सातों वैशेषिक परम्परा में मान्य पदार्थों का विशद विवेचन हुआ है। यत्र-तत्र अन्य भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों तथा पाश्चात्य विचारों के साथ तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में विवेचन दिखाई देता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ विवरणात्मक है, विश्लेषणात्मक नहीं। परन्तु विपुलकाय न्याय-वैशेषिक परम्परा का सांगोपांग विवरण भी अपने आप में पर्याप्त एवं स्तुत्य कार्य है। अपने आप में यह एक सम्पूर्ण ग्रन्थ है। विवेचन में समग्रता के कारण इसमें इस दृष्टि से किसी न्यूनता को दिखाना कठिन है। सूत्रकार कणाद से लेकर अद्यावधि उपलब्ध सभी मूल वैशेपिक ग्रन्थों तथा आंग्ल भाषा में उपलब्ध सामग्री को आधार बनाकर ऐतिहासिक एवं वैचारिक दोनों दृष्टियों से इसमें वैशेषिक परम्परा का सम्यक् विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ में वैशेषिक परम्परा के सभी उपलब्ध ग्रन्थों का निचोड़ एवं सार-संग्रह प्रस्तुत हुआ है।

प्रत्येक मानवीय कृति में कुछ न्यूनताएँ एवं दोष अपरिहार्य हैं, इस दृष्टि से कतिपय ऐसे विन्दुओं की ओर इंगित करना असमीचीन नहीं होगा। सर्वप्रथम तो इस ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसी भ्रान्ति होती है कि इसमें न्याय और वैशेषिक परम्पराओं को पृथक्-पृथक् मानकर विवेचन हुआ है तथा वैशेषिक परम्परा को ही विचार का केन्द्र रखा गया है। भले ही न्याय और वैशेषिक परम्पराओं का स्वतन्त्र एवं पृथक् उद्भव हुआ हो, वे त्वरित ही एकीभूत हो चली थीं और इसी दृष्टि को लेकर चलना चाहिए। भले ही न्याय-ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का इस प्रबन्ध में उल्लेख हुआ है, किन्तु उसे तुल्य स्थान मिलना चाहिए था। वैसे भी यह प्रबन्ध काफी वड़ा हो गया है, किन्तु कुछ और पृष्ठ बढ़ जाने से कोई आपत्ति नहीं होती।

न्याय-वैशेपिक परम्परा बाह्यार्थवादी है, परन्तु बाह्यार्थ का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है। बाह्य से तात्पर्य ज्ञानवल अर्थात् ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु के अस्तित्व की स्वीकृति है, तो फिर अपेक्षाबुद्दिजन्य गुणों की क्या तात्त्विक स्थिति होगी - यह स्पष्ट रुप से विचारणीय है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैशेपिक तत्त्वमीमांसा में मूल्य का क्या स्थान है? क्या मूल्य सत् हैं? भूत वस्तु तो सत् होती है, पर क्या भव्य वस्तु को भी सत् माना जा सकता है? क्या पदार्थ के अन्तर्गत तथ्य और मूल्य दोनों आ सकते हैं? इन प्रश्नों पर भी इस प्रवन्ध में थोडा विचार होता तो सुन्दर होता।

यह भी विचारणीय है कि आदिशंकर का यह मन्तव्य कि 'परमाणुकारणवाद अवैदिक है' कहाँ तक ऐतिहासिक तथा तार्किक दृष्टि से आधारयुक्त है? प्रथम परिशिष्ट में इस सन्दर्भ में किया गया विवेचन अपर्याप्त है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'भूत संज्ञा केवल आणविक नहीं है'। सांख्य के पंचमहाभूत आणविक नहीं है, पंचीकरण तथा त्रिवृत्करण का सिद्धान्त सांख्यसम्मत है, पर वैशेपिक-सम्मत नहीं है। मनुष्यादि शरीर केवल पार्थिव ही हैं, पाञ्चभौतिक नहीं, इसमें वैशेषिक मतानुसार पृथ्वी के अणु समवायिकारण हैं और अन्य चार भूत निमित्तकारण मात्र हैं। इसी तरह जलीय शरीर में जल के अणु समवायिकारण हैं। इसी तरह जलीय शरीर में जल के अणु समवायिकारण हैं और अन्य भूत निमित्तकारण; तैजस तथा वायव्य शरीर में भी क्रमशः यही स्थिति है। तात्पर्य यह है कि 'भूतत्व' की परिभाषा सांख्य एवं वैशेषिक परम्पराओं में भिन्न-भिन्न है। सांख्यदर्शन में भूत से भौतिक उत्पन्न होता है, पर वैशेषिक दर्शन में आकाश से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

इस ग्रन्थ में आकाश, काल व दिक् के पारम्पारिक सम्वन्धों तथा उनके एक तत्त्व में उपचय की संभावना आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानों एवं शोधों के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है और इनपर चिन्तन इस प्रबन्ध की महत्ता को और भी अधिक गौरव प्रदान कर सकता है। इसी तरह जाति व सामान्य के पारम्पारिक सम्वन्धों का स्पष्ट विवेचन यहाँ अपेक्षित माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में इन दोनों के भेदाभेद का उल्लेख तो हुआ है, परन्तु विशद विश्लेपण अधिक ज्ञानवर्धक होता। पदार्थ की संख्या के वारे में समय-समय पर जो विप्रतिपत्तियाँ उठी हैं, उनका दार्शनिक आधार क्या है, इसका विश्लेषण भी अपेक्षित है। वस्तुतः ऐसी अनेकों अपेक्षायें व्यक्त की जा सकती हैं परन्तु स्थान की सीमा को देखते हुए इनकी अनुपलब्धि क्षम्य है। प्रवन्ध के गुण ही ध्यान देने योग्य हैं, न्यूनताएँ तो, जैसा ऊपर कहा गया है, मानवीय पुरुपार्थ में होनी ही हैं।

न्याय-वैशेषिक परम्परा जीवन्त एवं अक्षुण्ण रही है। ज्ञानशास्त्रीय, तार्किक,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाषाकीय एवं तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से इनका महत्त्व निर्विवाद है। इसमें प्रतिपादित परमाणुकारण वाद वैज्ञानिक दृष्टि से विरेच्य है और अनुसन्धान की नई संभावनाएँ लिए हुए है। न्याय-वैशेषिक चिन्तन अपने मूल ढाँचे के अन्दर प्रारम्भ से ही लचीला रहा है, अतः समय-समय पर इसमें परिष्कार होते रहे हैं। नवीन समस्याओं पर न्याय-वैशेषिक चिन्तन नूतन दृष्टि प्रदान करता आया है एवं दार्शनिक चिन्तन के सन्दर्भ में न्याय-वैशेषिक को पूर्वपक्ष के रुप में रखकर वर्तमान दार्शनिकों के समक्ष प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। जिस तरह आदिशंकर ने पूर्वपक्ष के रुप में वैशेषिक सिद्धान्तों की समीक्षा की और परिणामतः वैशेषिक सम्प्रदाय में विचारों का आन्दोलन हुआ या जिस तरह वौद्ध दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि से वैशेषिक मान्यतओं एवं सिद्धान्तों की समीक्षा की और परिणामतः वैशेषिक परम्परा में नई उद्भावनाएँ आयीं, वैसी ही स्थिती वर्तमान में भी पुनरावृत्त हो, इसकी आवश्यकता है।

आशा है कि इस प्रगाढ और वैदुष्यपूर्ण प्रवन्ध के पठन के उपरान्त जिज्ञासु विद्वान इस दिशा में पहल कर सकेंगे। इस दृष्टि से यह प्रवन्ध अवश्य पठनीय है।

सिद्धेश्वर भट्ट

आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- २ -

नेमपाल प्रजापति, आदमी का व्याकरण

(प्रकाशक : पावन प्रकाशन, 'भारतेश्वरी धाम', अंकित विहार, पचेण्डा मार्ग, मुजफ्फर नगर (उ० प्र.), १९९३, vii + १२०. मूल्य पैंतीस रुपये (अजिल्द), सत्तर रूपये (सजिल्द)।)

'आदमी का व्याकरण' नेमपाल प्रजापति की मुक्तछंद और तुकांत शैली में रची गई व्यंग-प्रधान पद्य-रचनाओं का एक सुंदर संग्रह है। फिलहाल नेमपाल जी की पहचान मेरठ-मंडल में एक नवोदित मंच कवि के रुप में अपनी जगह वना रही है। प्रस्तुत काव्य-कृति अनेक सामाजिक सरोकार तथा वौद्धिक जागरुकता को परिभाषित कर इस मंच कवि से इससे भी कहीं अधिक साहित्यिक अवदान की अपेक्षा जगाती है। प्रस्तुत कृति की रचनाओं को कवि ने स्पष्टतः मंचीय परिवेश को सामने रखकर रचा है। शायद अपनी कल्पना में कवि ने मंच के समक्ष उपस्थित साधारण श्रोताओं के जनसम्मर्द को सतत सामने रखा है, जो कि वुरा है नहीं, परन्तु आज के मंचकवियों के पेशेवर दृष्टिकोन, उनकी शरावी-कवावी संस्कृति तथा हुडदुंगी स्वभाव के चलते तथा कुछ-कुछ ऐसे ही स्वभाव के दर्शनों की वढ़ती उपस्थिति एवं गंभीर सहृदय श्रोताओं के वहिष्कार के कारण वुरा प्रतीत होने लगा है, कवि नेमपाल की इस प्रवृत्ति को प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। समस्त कविताओं में यह प्रवृत्ति कवि पर वुरी तरह हावी है। जवकी कवि ने वौद्धिक विस्तार को देखते हुए इस समीक्षक का मत है कि कवि अगर थोड़ा सा भी प्रयास करे तो वह और अधिक दूरियाँ तय कर सकता है। ध्यान रखना होगा कि अंततः शिष्टजन सम्मत गंभीर प्रयास ही चिरस्थाई तथा लोकवंद्य होता है।

संस्कृत और हिन्दी में 'वि' उपसर्ग बहु-प्रयोजन वाला है। खास या विशेष विकार या विकृति, अत्यंत, विपरीत या उल्टा एवं निषेध-इस तरह के अनेक अर्थों की सूचना देने के लिए मूल धातु शब्द के आगे 'वि' उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है। व्यंग या व्यंग में भी 'अंग' के आगे 'वि' उपसर्ग है। इस तरह वि + अंग ही संधि होकर 'व्यंग' वनता है, जिसका अर्थ हुआ - किसी खास या विशेष अंग या लक्षण के साथ अपनी बात

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहना। कुछ लोग 'वार्ता को किंचित हास परिहास के साथ कुछ विकृत रुप में प्रस्तुत करना' ऐसा भी 'व्यंग' (व्यंग) का अर्थ करते हैं। इस व्यंग में वाग्विदग्धता (वाणीद्वारा चलाना), वक्रोक्ति (तिरछी या टेढ़ी उक्ति), हास्य, विनोद आदि सभी का समावेश हो सकता है। ये सभी व्यंग-विधा के उपकरण मात्र हैं। इसमें पृथक्-पृथक् विभाजन का प्रयास (जो पूर्ण रुपेण संभव भी नहीं) तो कतिपय वितंडावादी आलोचकों का एक गैरजरुरी शगल मात्र है। शायद ऐसे ही आलोचकों से प्रभावित होकर कवि 'भूमिका के वहाने' में लिखता है - 'हिन्दी - साहित्य में वाग्विदग्धता, वक्रोक्ति, व्यंग और हास्य - इन चारों को आपस में मिला दिया गया है। व्यंग, हास्य की अपेक्षा वक्रोक्ति के अधिक निकट है। इसीलिए हास्ययुक्त व्यंग की अपेक्षा वक्रोतियुक्त व्यंग अधिक प्रभावी होता है।' परन्तु हमारी दृष्टि में कवि प्रजापति का यह द्वन्द्व निर्मूल है। वस्तुतः ऐसा कुछ नहीं है। स्वयं कवि प्रजापति को भी यह आभास नहीं होगा कि वह प्रस्तुत व्यंग-रचनाओं में कहाँ वक्र कथन कह गया है, कहाँ वाणी से दग्ध कर गया है, कहाँ हँसा गया है और कहाँ कटाक्ष कर गया है। कहने का यही आशय है कि स्वयं कवि ने प्रस्तुत कृति में व्यंग की सभी विधानों का सहज और प्रवाहमय एवं स्फुट प्रयोग किया है।

समीक्ष्य पुस्तक में कुल उनन्चास कविताएँ हैं। पुस्तक की पहली कविता 'आदमी', जो एक मुक्तक शैली में लिखी गई 'क्षणिका' का एहसास अधिक कराती है, वड़ी ही प्रभावशाली है। इसमें कवि विम्व के जरिये आज इंसानियत के गिरते स्तर पर कटाक्ष करता है -

इक अजीव उन्मादसा,
हादसा-दर-हादसा।
आदमी थे हम कभी -
पड़ रहा कुछ याद सा।

दूसरी 'लहू' शीर्षक कविता में भी कवि साम्प्रदायिक सौहार्द की प्रेरणा देने में सफल रहा है। तीसरी कविता 'भारतीय इन्सान हूँ' का विषय भी साम्प्रदायिकता ही है, किंतु इस कविता का काव्यपक्ष दुर्वल है। इसमें 'भूख वहुत कड़वी होती है और ये शहर की जिन्दगी को विल्कुल भड़वी होती है।' जैसी पक्तियों को सुंदर कविता का दृष्टांत नहीं कहा जा सकता। यहाँ कवि ने चालू भापा में महज तुकवन्दी का निर्वाह किया है। अगली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'प्रश्न' कविता सामान्य है। वन्दर-भेडिया संवाद शार्षक कविता का कथ्य तो अभिनंदनीय है, जिसमें आज के आदमी पर व्यंग है, किन्तु तथ्य कि दृष्टि से इस कविता में तर्काभास पैदा कर पाठक या श्रोता को तुकवन्दी की भूलभूलैयाँ में फँसाकर वरगालने की कोशिश की गई है। भेडिया, जो कि जानवरों में छल-कपट, धूर्तता और मक्कारी का पर्याय और प्रतीक स्वयं ही है, उसके मुख से उक्त दुर्गुणों को जानवरों की पहुँच से वहुत परे कहलवाना कुछ ठीक नहीं जँचा। वैसे भी मानवता जव भ्रष्ट होकर जीवन-मूल्यों से रहित हो जाती है तो पशुजन उसे मानवता न कहकर पशुता या पाशविकता से ही सम्वोधित करते हैं। 'पशुता' का तात्पर्य भी कुत्ते, विल्ली, सर्प, अजगर, भेडिया, सिंह, चीते आदि हिंसक जंतुओं से कहीं अधिक ग्राह्य है, जिनके स्वभाव में छल-कपट, स्वार्थ, धूर्तपन, घात लगाना, स्वजाति-द्रोह आदि दुर्गुण सहज ही पाए जाते हैं। इससे आगे 'आदमी का व्याकरण' शार्षक कविता, जिस पर इस काव्य-कृति का शीर्षक भी आधृत है, श्रमजीवी ईमानदार व्यक्ति की विडंवना पर एक सटीक व्यंग है। परन्तु यह समझ में नहीं आया कि कृति के शीर्षक हेतु कवि ने यह कविता ही क्यों चुनी? इस किताव की अधिकांश कविताओं का विषय आज के छल-छद्‌म, स्वार्थ और मक्कारी से भरे मनुष्य की दूरभिसंघियों को अनावृत्त कर जनता के समक्ष प्रस्तुत करना है, जवकि 'आदमी का व्याकरण' की विषयवस्तु एक ईमानदार मेहनतकश इंसान है। प्रथम दृष्ट्या कृति ने शीर्षक से भी दुरभिसंन्धियोंवाले आदमी की ही छवि पाठक के मस्तिष्क में आकार ग्रहण करती है, मानो कि कवि आज के रुप में सौंप रहा है। श्री शुकदेव श्रोत्रिय के वनाए आवरण-चित्र से भी कुछ-कुछ ऐसा ही आभास मिलता है। परन्तु उक्त कविता को पढ़ते ही वनी-वनाई छवि को एक आघात पहुँचता है। यदि कहीं-कहीं भापात्मक स्खलन तथा तुकवंदी के मोह को नजर-अंदाज कर दिया जाए को किताव की 'व्लडग्रुप', 'शहीद', 'पंजाव-समस्या', 'नगर-सेठ', 'दूध, पानी और लहू', 'दर्पण', 'वि-पक्षी', 'पेट का वैक डोर', 'जनमेजय', 'गुरु-चेला', 'विपपायी', 'यत्र-तत्र-सर्वत्र', 'रामराज्य', 'कविता का भ्रम', 'यह सच है' तथा 'गाँठ' शीर्षक रचनाओं में कवि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इन रचनाओं में भ्रप्ट राजनीति, आतंकवाद, उद्योगपति, सम्प्रदायिकता, साम्राज्यवादी साजिश, कविता और कवि का गिरता स्तर, पूँजीवाद, पुलिस और प्रशासन आदि पर कवि ने वड़ी ही तीखी और सटीक शैली में व्यंग किए हैं। शेप रचनाएँ साधारण हैं।

कवि के कुछ भाषा-प्रयोगों पर आपत्ति है। 'बन्दर-भेड़िया संवाद' में कवि ने सर्वत्र 'माँस' लिखा है, जो कि 'मांस' होना चाहिए। 'सत्य और सत्ता' लगभग एक ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चीज है। 'सत्' की मौजूदगी या अस्तित्त्व-संज्ञा ही 'सत्ता' है तथा 'सत्' के जो अनुकूल या काविल हो अर्थात् सत्-सापेक्ष हो, वह 'सत्य' है। अतः 'सत्य और सत्ता' में पृथक् होने जैसी कोई गुंजाइश ही नहीं है। हिन्दी वाले इन दोनों शब्दों को लेकर बड़े भ्रान्त नजर आते हैं। 'जूता' कविता में 'जूते की वहुत वड़ी महिमा है' वाक्य में 'महिमा' से पूर्व 'वहुत वड़ी' शब्द अखरता है, क्योंकि 'महिमा' शब्द तो स्वयं ही वड़प्पन-सूचक है। इसी कविता में 'जानवरों को झूठ, द्वेष, जातपाँत, मजहव परस्ती जैसे रोगों से मुक्त पाया है।' कहना भी पूर्वोक्त की भाँति आपत्ति-योग्य है। यही 'दुनियाँ' शब्द भी 'दुनिया' होना चाहिए। 'नगर सेठ' में वैभवी ने विवशता का किया था उपहास, वाक्य में 'वैभवी' के स्थान पर 'वैभव' शब्द अधिक उपयुक्त होता, क्योंकि नगर सेठ भी पुरुष और पुल्लिंग है, अतः पुल्लिंग 'वैभव' ही ज्यादा प्रतीकात्मक एवं समीचीन होता। 'गादड़ वार्ता' में 'मैं अपनी जीभ तुम्हारे घाव पर घीस रहा था।' वाक्य में खालिस तुक्का जड़ा गया है, जो अतार्किक है। इसी कविता में 'यह कव्र सचमुच के एक नेता की है।' वाक्य में 'सचमुच के' शब्द से अर्थ ही बदल गया है। सचमुच के नेता तो साक्षात् महापुरुष कोटि में गण्य होते हैं। उत्तम होता कि कवि 'यह कव्र एक नेता की है।' वाक्य का प्रयोग करता। 'भक्त' शीर्षक कविता में भी कवि का योगेश्वर कृष्ण के वारे में मध्यकालीन कवियों में रूढिवाद का शिकार हो चला है, जो कि श्रेयस्कर नहीं है।

इस नकारात्मक पहलू के वावजूद कवि आशा जगाता है। कवि पर तुकवाजी के आरोप में जहाँ सच्चाई है वहीं यह भी उतना ही सच है कि कवि के ये तुक्के भी स्वयं में जीवंत हैं, जिनमें एक प्रतिमा - एक जानदार कटाक्ष निहित है। ये तुक्के कहीं-कहीं 'लक्षणा' तथा 'अर्थोचित्य' का इतना सुंदर नमूना पेश करते हैं कि वरवस ही कवि के लिए दाद देनी पड़ती है। 'गुरु-चेला' कविता में 'लक्षणा' का एक प्रयोग दिखिए -

यानी
ये सव
अपने आप में हुज़ूर हैं,
सेवा फल के नाम पर
पूरे खजूर हैं।

इसे पढ़कर तत्काल 'वड़ा हुआ है। क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर, पंछी को छाया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं फल लागे अति दूर' पंक्तियाँ कानों में गूंजने लगती हैं।

आकर्षकसाज-सज्जा, सीमित मूल्य तथा प्रूफ की नगण्य त्रुटियों से युक्त यह कृति पठनीय है। काव्य रसिकों को इसका स्वागत करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। निः संदेह नवहस्ताक्षर के रुप में नेमपाल जी प्रोत्साहन के पात्र हैं।

जय सदन,
देवपुरम्, मुजफ्फर नगर
२५१००१, उ. प्र.

आलोक शर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जाएगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने ही पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

University of Poona

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए संस्थापक संपादक सुरेंद्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक पिंण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस्, ८४७ कसबा पेठ, पुणे ४११ ०११ में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

डॉ सुरेन्द्र सिंग नेगी	:	अल्फ्रेड नॉर्थ व्हाइटहेड का निरपेक्षवादी दर्शन १८८१ - १९४७	१५७
विजयकुमार शर्मा	:	भागवतीय सांख्य	१६७
डॉ. वा. ना. पण्डित	:	भागवत संप्रदाय प्रेरणा और प्रभांव (भाग १)	१८३
डॉ. सोमनाथ नेने	:	महाकवि भवभूति एवं याथार्थ्य	२०९
डॉ. नरेन्द्र सिंह महला	:	रसेल एवं फ्रेगे के गणितीय चिन्तन में "संख्या" की अवधारणा	२१७
औतार लाल मीणा	:	"बौद्ध दर्शन के अपोह के प्रत्यय का विवेचन"	२२५
श्रीनिवास पात्रो	:	दिनकर के काव्य में अरविंद - दर्शन का प्रभाव	२३७
सिद्धेश्वर भट्ट	:	समीक्षा	२४३
अलोक शर्मा	:		

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.